सर्वोदय ग्रन्थमाला—संख्या २.

सर्वोदय अर्थव्यवस्था

[कुछ आधारभूत सिद्धांत और विशेषताएँ]

लेखक
जवाहिरलाल जैन

प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद।

मुद्रक
पृथ्वीनाथ भार्गव, मैकेनेलाइट प्रिंटिंग वर्क्स,
११ स्टेनली रोड, इलाहाबाद।

पहला संस्करण] सन् १९५१ ई० [मूल्य, डेढ़ रुपया

विषय-सूची

—:•:—

भूमिका

जब से मानवजाति की इस जगत में उत्पत्ति हुई है, तभी से आज तक किसी भी समय सब के सब मनुष्य कुछ वर्षों के लिए भी खान-पान-वस्त्र और मकान के बारे में भी सुखपूर्वक रहे हों, ऐसा दिखाई नहीं देता। जब मनुष्यों की आबादी कम थी, और जहाँ चाहे वहाँ वे जाकर बस सकते थे, जमीन या जगत् की किसी भी चीज पर कोई अपनी मालिकी या कब्जा बताने की परवाह न करता था, तब भी हर एक मनुष्य आराम से रहा हो, ऐसा मालूम नहीं होता। यह संभव है कि सभी एकसे दरिद्र रहे हों। परिवार जाति या गिरोह का मुखिया या राजा भी सुख सपति की दृष्टि से खानेपीने के और ओढ़ने के साधन प्राप्त करने के लिये शायद वैसा ही परेशान रहा हो, जैसा उसकी रैयत का छोटा से छोटा व्यक्ति। उस जमाने में आर्थिक समानता तो रही होगी। अर्थ के कारण वर्ग-विग्रह, बड़े-छोटे का भेद न रहा होगा। परन्तु उस वक्त का समाज आर्थिक दृष्टि से सुखी और सन्तुष्ट था, ऐसा नहीं कहा जा सकेगा। सबब यह कि यद्यपि अर्थोत्पादन के साधन खानगी पूँजीपतियों के हाथ में न थे, न वितरण की भी कोई अन्यायी पद्धति थी, और न प्रजा संख्या भी बहुत अधिक थी, फिर भी आवश्यकताओं को पैदा करने का ज्ञान ही पर्याप्त न था। इसलिये 'पानी बिच मीन पियासी' की तरह सब साधन और विशाल भूमिपट मौजूद होते हुए भी मनुष्य अपनी दरिद्रता, भुखमरी आदि मिटाने में असमर्थ था।

किस तरह जीवन-निर्वाह सरल और सुखपूर्वक हो, सुबह से शाम

वर्ष के आदि से अंत, और जन्म से मरण तक खानेपीने के लिये साधन जुटाने के लिये अविराम श्रम न करना पड़े, इसकी खोज में मनुष्य अपनी बुद्धि चलाता रहा है। शरीर परिश्रम से लेकर अनुभव आदि द्वारा सुख-सुविधा के पदार्थ बढ़ाने की शक्ति बढ़ाता ही रहा है। ज्ञान-विज्ञान मंत्र-यंत्र, तंत्र, छोटे-मोटे उपकरण-औजार, राजकीय सामाजिक-आर्थिक आदि जो भी रचना और युक्ति, जब जैसी सूझी, सब तरह की आजमा चुका है। सच-झूठ, हिंसा-अहिंसा, युद्ध-सहयोग आदि सब तरह की नीति-अनीति का प्रयोग किया है। सुख या अर्थ प्राप्ति के लिये, उसने अपनी दृष्टि संकुचित भी रखी है, विशाल भी की है। कभी अपने खातिर अपने मावाप, भाई, या बच्चों को भी मारा है। कभी अपने परिवार के लिये दूसरे परिवार से झगड़ा है। कभी जाति के लिये, कभी राष्ट्र के लिये दूसरों का संहार किया है। अपने मार्ग में विघ्न-रूप जाति की जातियाँ नष्ट कर डाली हैं। इस तरह करते करते आज की स्थिति पर मनुष्य आ पहुँचा है। आज की मानव दुनिया में बिलकुल प्रारंभिक स्थिति में जैसी सर्व मनुष्य जाति होने की कल्पना की जा सकती है, वैसी जातियाँ भी हैं, और उस स्थिति से आगे बढ़ते-बढ़ते यूरोप-अमेरिका का विज्ञान में पराकाष्ठा पाया हुआ समाज भी है। तरह तरह की धार्मिक राजकीय, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थायें भी है। एक तरफ से खान-पान, सुख-भोग आदि के साधनों की कोई कमतरता नहीं है। फिर भी सब मनुष्य थोड़े समय के लिये भी सुखपूर्वक रहे हों, इस स्थिति पर पहुँचने के लिये मनुष्यजाति अब तक सफल नहीं हुई है। बल्कि, अभी तक मनुष्यजाति का अधिकतर हिस्सा तो दारिद्र के पंक में जैसा का वैसा ही डूबा हुआ है, इतना निराश-सा हुआ है कि न तो वह अब अध्यात्मज्ञान से समाधान पा सकता है, न तो परिश्रम और कोरकसर करके धीरे धीरे अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के पुराने नियम पर चलने की धीरज रख सकता है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

यह मनुष्य हृदय की अभिलाषा है । परन्तु यह सिद्ध होगी, ऐसा कहीं पर भी चिह्न दिखाई नहीं देता । चाहे जो कारण हो, किसी का भी दोष हो, परन्तु सब सुखी नहीं है, सब निरोगी नहीं है, सब की कुशलता देख नहीं पड़ती है, दुःखहीन सृष्टि कहीं पर नहीं है, यह निर्विवाद है । इस पर से कई विचारकों की यह राय है कि इस संसार में सुख हो ही नहीं सकता, जो सुख दिखता है, वह भी छिपे रूप में दुःख ही है ।

परन्तु सुख की अभिलाषा तो छूटती नहीं । इसलिये मरण के बाद स्वर्गादि में सुख मिल सकेगा, ऐसी आशा बाँध रखी है । यहाँ प्रयत्न करने पर भी सुख के साधन जुटा नहीं सकते हैं, तब तपश्चर्यादि के कुछ ज्यादा दुःख सहन कर लें, और स्वर्ग में सुख प्राप्त करने का सरंजाम जुटा रखें, इस तरह के प्रयत्न भी किये हैं । कई को ऐसी स्वर्गादि की कल्पना में सार नहीं मालूम हुआ । उन्होंने सुख की आशा ही दुःख है, ऐसा निश्चय करके यह आशा ही छोड़ने और मोक्ष प्राप्ति से दुःख नाश करने की बात सोची । इस तरह कई स्वर्गवादी और अध्यात्मवादी लोग भी हुये हैं ।

कई और विचारकों ने सारी मानवजाति को सुखी करने की आशा ही छोड़ दी । ज्यादा से ज्यादा लोगों को ज्यादा से ज्यादा दैहिक सुख कैसे हासिल हो, इतना ही ध्येय व्यवहार्य है, ऐसा समझ कर उन्होंने प्रयत्न किया । परन्तु यह ध्येय भी सफल नहीं हुआ । केवल चंद लोगों को ज्यादा से ज्यादा दैहिक सुख, कई को साधारण सुख, और करोड़ों का भीषण शोषण, दारिद्र्य और स्वातन्त्र्य नाश कर बैठे ।

दुनिया में छोटे-छोटे राज्य रहे हों या बड़े-बड़े साम्राज्य, ताना-शाही रही हो या लोकशाही, विशाल कारखाने बने हों या जापान

रचना है, जो आसुरी नींव पर खड़ी है, और उसमें जो सुखी जीवन का भास दिखता है, वह चार दिन की मायावी रचना सी मालूम होती है।

इस तरह पूञ्जीवाद और साम्यवाद दोनो से असन्तुष्ट विचारक, दोनों की बुराइयों से मुक्त हो और दरिद्रता के दुःखो को हटाने के लिए समर्थ हो, और जिसके साधन भी साध्य की तरह ही शुद्ध और उच्च हों, ऐसा मार्ग खोजते रहे हैं।

यह खोज भी कोई आजकल नयी सूझी हुई बात नहीं है। वह भी प्राचीन ही है। महाभारत में भी इसका जिक्र मिल सकता है। लेकिन जिस तरह पूञ्जीवाद और साम्यवाद प्रथम दो प्रणालिकाओं के अर्वाचीन नाम है, ऐसा सर्वोदयवाद इस तीसरी खोज का अर्वाचीन नाम है, हमारे जमाने में गाँधीजी ने इसका विशेष रूप से समर्थन और उसका दिग्दर्शन कराया है।

गाँधीजी ने उसकी पूरी योजना नहीं बनायी न पूरा चित्र भी कभी खींच दिया। कुछ मोटी कल्पनायें उन्होंने दी है, जो हमारे लिये अधिक विचार करने के लिये सामग्री के रूप में है। हमारे लिये भी उसकी सम्पूर्ण योजना, और उस पर खड़े किए हुये समाज का पूरा चित्र खींचना बहुत मुश्किल है। सबब यह है कि मानव समाज एक कोरी स्लेट नहीं है, और संसार में कोई भूमिभाग ऐसा नहीं है, जहाँ हम सब दुनिया से अलग होकर एक नये सिरे से हमारे आदर्शानुसार समाज बना सकें। जिस परिस्थिति में आज हम हैं, उसी में फेर-फार कर हमें अपने आदर्शों के नजदीक उसे ले जाना है, और वह परिवर्तन करा लाने में हमें सत्य, अहिंसा आदि शुद्ध साधनों का ही उपयोग करना चाहिये,,यह हमारा मत है। यह मत कोई भावुकता के कारण नहीं है, परन्तु इसलिये है कि हमारी दृढ़ प्रतीति है कि अशुद्ध साधनों से कोई ऐसी रचना पैदा हो ही नहीं सकती, जो सभी को क्या, बहुजन समाज को भी सुखी कर सके।

की तरह गृहोद्योग (Cottage industries) दिन में १४ व १५ घंटे मजदूरी करायी जाती हो, या ५ व ६ घंटे, भूमि, कारखाने आदि पर खानगी व्यक्तियों का अधिकार रहा हो या राष्ट्र का—करोड़ों का शोषण, दरिद्रता, भूखमरी, स्वातंत्र्य-नाश, हत्या, जुल्म टल नहीं सका है।

हमारे इस जमाने में इस विषय में दो प्रणालिकायें मुख्य हैं, पूँजीवादी और साम्यवादी। पूँजीवादी प्रणालिका की प्राचीनता के विषय में किसी को संदेह नहीं। साम्यवादी विचार भी कोई अर्वाचीन है, ऐसी बात नहीं। लेकिन यह शब्द नया है, और बहुत विशाल पैमाने पर उसका प्रयोग और प्रचार अर्वाचीन है। उसके अच्छे और बुरे दोनों तरह के परिणामों ने सभी को चकाचौंध कर डाला है। आज तक जगत में जितनी ही प्रणालिकाएँ हुयी हैं, इन सबसे इसने थोड़े समय में ज्यादा से ज्यादा लोगों के जीवन निर्वाह का सवाल हल किया है—ऐसा इसके बारे में दावा है। इस कारण भावनावान सज्जन, जोशभरे तरुण और गरीबी से तंग आये हुये साधारण लोग सभी इसके प्रति आकर्षित हुये हैं। परन्तु दूसरी तरफ से इसने अपनी सत्ता जमाने के लिए भीषण मानव संहार, हजारों लोगों पर घोर जुल्म, उनके स्वातंत्र्य का नाश, तथा व्यक्तित्व का दमन किया है। कुटिल नीति, द्वेषबुद्धि, निर्दयता तथा सब प्रकार के बुरे साधनों का प्रयोग किया है। अपने देश को दुनिया की नजर से इस प्रकार छिपा रखा है कि सचमुच उसकी क्या हालत है, इसका ठीक पता ही लगाना मुश्किल हो गया है। इन सब कारणों से जो पूँजीवादी प्रणाली का समर्थन करनेवाले नहीं है, दीन-दलित-दरिद्रों के मित्र हैं, परन्तु सात्विक और साधुचरित हैं, और मानते हैं कि जिस तरह ध्येय शुद्ध और उच्च होना चाहिये, उसी तरह उसकी तामीर करनेवाले साधन भी शुद्ध और उच्च होने चाहिये, उन्हें इस साम्यवाद में मानवजाति का कोई शुभ दिखायी नहीं देता। वह मानवताशून्य, नीतिशून्य

रचना है, जो आसुरी नींव पर खड़ी है, और उसमें जो सुखी जीवन का भास दिखता है, वह चार दिन की मायावी रचना भी मालूम होती है।

इस तरह पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों से असन्तुष्ट विचारक, दोनों की बुराइयों से मुक्त हो और दरिद्रता के दुःखों को हटाने के लिए समर्थ हो, और जिसके साधन भी साध्य की तरह ही शुद्ध और उच्च हों, ऐसा मार्ग खोजते रहे हैं।

यह खोज भी कोई आजकल नयी सूझी हुई बात नहीं है। यह भी प्राचीन ही है। महाभारत में भी इसका जिक्र मिल सकता है। लेकिन जिस तरह पूंजीवाद और साम्यवाद प्रथम दो प्रणालिकाओं के अर्वाचीन नाम हैं, ऐसा सर्वोदयवाद इस तीसरी खोज का अर्वाचीन नाम है, हमारे जमाने में गांधीजी ने इसका विशेष रूप से समर्थन और उसका दिग्दर्शन कराया है।

गांधीजी ने उसकी पूरी योजना नहीं बनायी न पूरा चित्र भी कभी खींच दिया। कुछ मोटी कल्पनायें उन्होंने दी है, जो हमारे लिये अधिक विचार करने के लिये सामग्री के रूप में है। हमारे लिये भी उसकी सम्पूर्ण योजना, और उस पर खड़े किए हुये समाज का पूरा चित्र खींचना बहुत मुश्किल है। सबब यह है कि मानव समाज एक कोरी स्लेट नहीं है, और संसार में कोई भूमिभाग ऐसा नहीं है, जहाँ हम सब दुनिया से अलग होकर एक नये सिरे से हमारे आदर्शानुसार समाज बना सकें। जिस परिस्थिति में आज हम हैं, उसी में फेर-फार कर हमें अपने आदर्शों के नजदीक उसे ले जाना है, और यह परिवर्तन करा लाने में हमें सत्य, अहिंसा आदि शुद्ध साधनों का ही उपयोग करना चाहिये,,यह हमारा मत है। यह मत कोई भावुकता के कारण नहीं है, परन्तु इसलिये है कि हमारी दृढ़ प्रतीति है कि अशुद्ध साधनों से कोई ऐसी रचना पैदा हो ही नहीं सकती, जो सभी को क्या बहुजन समाज को भी सुखी कर सके।

हम सर्वोदय अर्थ रचना की पूरी योजना नहीं बना सकते, और पूरा चित्र खींच नहीं सकते, इसका एक दूसरा सबब भी है। स्वयं गाँधीजी से लेकर हम सब हमारे मौजूदा समाज के ही प्राणी हैं। इसी में पैदा हुये हैं, बसे हैं, और पनपे हैं। विकेन्द्रित राज्यपद्धति, समाज-रचना और अर्थोत्पादन तथा व्यवस्था के हम कितने ही हामी क्यों न हों और वर्गविहीन समाज, आर्थिक समानता, अहिंसक समाज रचना आदि के हिमायती और युद्ध सामग्री के विरोधी तथा यंत्रवाद के विरोधी हों, फिर भी कुछ अंश में जैसी भी आज समाजरचना है, उसके कुछ लाभों का भी हमें खयाल और मोह है, कुछ यह भी डर है कि अमुक हद में हम केन्द्रीकरण, बड़े कारखाने, लड़ाई के साधन आदि न रखेंगे तो हमारी बात बिलकुल टिक नहीं सकेगी। इस परिस्थिति में वर्तमान केन्द्रित राज्यप्रणाली तथा पूञ्जीवादी या साम्य-वादी अर्थरचनायें और अत्यन्त विकेन्द्रित और अराजक प्रणाली के बीच कोई मध्यम मार्ग ढूँढने का हम सब प्रयत्न करते हैं, और उसे हमने सर्वोदय नाम दिया है। सर्वोदय अर्थात् एक मध्यम मार्ग बन जाता है। मध्यम मार्ग चीज ही ऐसी है कि उसमें जब हम छोटी तफसील में उतरते हैं, तब कोई दो प्रौढ़ विचार करनेवाले उसकी बिलकुल एक ही व्याख्या नहीं कर सकते। मोटे तौर पर निष्ठा एक-सी होती है, परन्तु एक विचारक एक विगत को व्यवहार या आव-श्यक मानता है, दूसरा उसे अव्यवहार्य या अनावश्यक मानता है। इसलिये सर्वोदय अर्थरचना का चित्र फिलहाल तो अस्पष्ट सा ही बनाया जा सकता है।

"वादे वादे जायते तत्वबोधः" इस न्याय से, भिन्न भिन्न विचारकों का अपनी-अपनी दृष्टि से परन्तु निराग्रह भाव और सत्यशोधन की वृत्ति से सर्वोदय अर्थरचना के चित्र खींचने का प्रयत्न करना अच्छा है। इससे इस विषय पर विचार करने की अनेकों को प्रेरणा मिलती है। खुद अपने विचार भी साफ होते जाते हैं। खुद बनायी हुई

कल्पना को सर्वांश मानकर उसमें फेर-फार के लिए गुंजाइश नहीं। ऐसी आग्रही वृत्ति ऐसे प्रसंग में रखनी न चाहिये। जब ऐसी आग्रही वृत्ति से ऐसी योजना बन जाती है, तब यह एक सम्प्रदाय या वाद का रूप धारण कर लेती है, और यह नुकसान भी करती है।

श्री जवाहरलाल जी जैन सर्वोदय के हार्द को पकड़कर उस पर अपना दिमाग चलाकर विचार करते हैं। उन्होंने अपने विचारों के अनुसार सर्वोदय अर्थरचना के कुछ मोटे मुद्दे इस पुस्तक में दिये हैं। इसे देने में उनका दृष्टि-बिन्दु यह है। इस दृष्टि से वे यह पुस्तक जनता के आगे पेश नहीं कर रहे हैं कि देखो मैंने आपको सब सोच विचार के एक नकशा तैयार कर दिया है, इसीको अपनालो और अमल में लाओ। बल्कि उनकी इच्छा है कि हर एक पाठक इसमें दिये हुये मोटे मुद्दों को नजर में रख सोचे, इसमें कुछ संशोधन भी करे और गाँधीजी जिस नवविचार का बीजारोपण कर गये हैं, उसे आगे बढ़ाने में सहयोग दे। यह निरहंकारवृत्ति इसकी विशेषता है।

मैं आशा करता हूं कि हिन्दी पाठक उनके विचारों पर सोचेगा।

वर्धा, ता० २१-४-५२ ई०　　　　　　　　किशोरलाल ध० मशरूवाला

दो शब्द

गत वर्ष जाड़े के मौसम में हिन्दी भाषा में अर्थशास्त्र तथा राजनीति के सुप्रसिद्ध लेखक श्री भगवानदास जी केला अपने स्वास्थ्य-लाभ के लिए सिहानी आदि और फिर जयपुर के प्राकृतिक चिकित्सालय में रहे। उनके पहले अर्थशास्त्र की सर्वोदय दृष्टि के सम्बन्ध में गांधीजी के कुछ हम लोगों तथा अन्य लोगों की ओर वे आकृष्ट हुए थे। इस सम्बन्ध में मेरा उनका पत्र-व्यवहार भी चला था, अतः जब हम दोनों को जयपुर में लम्बे समय तक रहने का मौका मिला, तो स्वतः सर्वोदय अर्थशास्त्र पर एक पुस्तक लिखने का विचार हुआ। उसकी एक रूपरेखा बनाकर काम बांट लिया गया; विषय के विवेचन और लेखन का कार्य भी आरम्भ कर दिया गया।

इसके बाद श्री केलाजी और मैं साथ शिवरामपल्ली के सम्मेलन में गए हुए और वहां श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल, श्री शंकररावजी देव आदि अन्य विद्वानों से इस सम्बन्ध में बातचीत हुई और वहां से वर्धा में श्री श्रीकृष्णदासजी जाजू तथा श्री किशोरलाल जी मशरूवाला से भी विवेचन हुआ; दक्षिण से वापिस आने के बाद फिर कार्याधिक्य के कारण इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हो सकी, लेकिन फिर भी जैसे-तैसे साल के अन्त तक अपने-अपने हिस्से के अंश को लिख लिया।

जब दोनों ग्रन्थ हम दोनों के सामने आये और उन पर विवेचन हुआ तो ऐसा लगा कि इन दोनों ग्रंथों की भाषा, शैली आदि में इतना अन्तर है कि विचार-साम्य होते हुए भी इन्हें अलग-अलग स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करना ठीक रहेगा, तदनुसार श्री केला जी का सर्वोदय अर्थशास्त्र तथा मेरी सर्वोदय अर्थव्यवस्था स्वतन्त्र रूप से पाठकों के सामने है। लेकिन दोनों पुस्तकें आपस के रुचि और लगातार विवेचन

पहला खण्ड

पहला अध्याय

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और उसके दोष

मानव व्यक्ति के रूप में एक पूरी इकाई है। अधिकतम प्रगति की नाएं उसमें निहित हैं, लेकिन सामान्यतः मानव अपना विकास समाज द्वारा ही कर सकता है क्योंकि वह स्वभाव और इच्छा दोनों से जिक प्राणी है। साथ ही जहां प्रगति की उच्चतम संभावनाएं मानव हैं, वहीं अवनति की आशंका भी उसके लिए पद पद पर है। प्रकार जहां एक ओर वैयक्तिक स्वाधीनता उसके लिए आवश्यक है, सामाजिक अनुशासन की आवश्यकता भी उसके लिए कम नहीं है। स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि मानव के ज्ञान और व्यवहार में व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप चलते आये हैं, यद्यपि प्रत्येक युग की परिस्थितियों में उनके रूप में वर्तन बराबर होता रहा है।

आज की व्यक्तिवादी व्यवस्था निजी पूंजी और निजी लाभ पर आधा- समाज व्यवस्था है जिसमें समाज का नियंत्रण, चाहे वह सरकार के रूप या अन्य सामाजिक संस्थाओं के रूप में, कम से कम रहा है। यह स्था साम्यवादी देशों के अतिरिक्त सारी दुनिया के राष्ट्रों में चालू है, पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तु का उत्पादन और वितरण क्तियों या समूहों द्वारा होता है, वे अपने संग्रहीत धन का उपयोग ने लिये तथा और अधिक धन कमाने के लिये करते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था के लक्षण—आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था जटिल व्यवस्था है। इसमें बड़े से बड़े पैमाने पर माल तैयार किया जाता

और विचारों के आदान-प्रदान का परिणाम है, अतः दोनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में पढ़ने की मेरी सिफारिश है।

श्री केलाजी तो अब इतने आत्मीय हो गये हैं कि उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाश करना भी ऐसी धृष्टता होगी, जो संभवतः अक्षम्य मान ली जाय, अतः मैं यह अनधिकार प्रयत्न नहीं करूंगा।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था संबंधी विचार-धारा के बारे में मैं इतना ही कहना चाहूँगा, कि अभी तो यह बिल्कुल आरम्भिक अवस्था में है। चिंतन और प्रयोग, प्रयोग और चिंतन के लम्बे और कष्टपूर्ण मार्ग में से इसे अभी बरसों नहीं, शायद युगों गुजरना होगा; तब कहीं मानव-समाज इसे अपना सकेगा। ऐसी स्थिति में अगर यह पुस्तक पाठकों को सर्वोदय अर्थ और समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक सोचने को भी प्रेरित कर सकी तो मुझे संतोष होगा।

लोकवाणी-कार्यालय
जयपुर (राजस्थान)
सर्वोदय दिवस; १२ फरवरी १९५२

जवाहिरलाल जैन

सामान्य लोगों में बेकारी फैलती है, अतः भूखों मरने से बचने के लिये निम्नतम मजदूरी में लोग काम करने को राजी होते हैं, इस प्रकार यह केन्द्रित, यंत्रित और विशाल पैमाने पर चलने वाली अर्थव्यवस्था मानव समाज को दो भागों में बाँट देने का प्रयत्न करती है, जिनमें से एक छोटा सा, पूंजीवाला तथा मोटा मुनाफा कमाने वाला संचालक और अधिकारी वर्ग होता है और दूसरा बड़ा, पूंजीरहित कम से कम मजदूरी पर जीवन पालन करनेवाला, वेतन-भोगी कर्मचारी और मजदूर वर्ग होता है। इनमें पारस्परिक आशंका, भय, विरोध के भाव पैदा होते और बढ़ते जाते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था के तथाकथित गुण

(१) स्वार्थ की प्रेरणा शक्ति—इस व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह बतलाया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की दृष्टि से अपने व्यवसाय को सफल बनाने की कोशिश करता है, क्योंकि सफल होने से मिलने वाला सारा मुनाफा उसका अपना होता है और उसका उपयोग वह अपनी इच्छानुसार कर सकता है। सामान्यतः स्वार्थ मानव का प्रधान प्रेरक होता है और व्यवसाय के साथ उसका संयोग हो जाने से वह व्यवसाय को अधिक से अधिक पूर्णता और सफलता पर पहुँचाने का प्रयत्न करता है। माल बढ़िया और अधिक तैयार होता है, और अधिक परिश्रम तथा हार्दिकता से किया जाता है। यह पूंजीवादी व्यवस्था का बड़ा महत्वपूर्ण गुण है।

(२) प्रतिस्पर्धा—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा का मान सर्वोपरि होता है अतः पूंजीपति संगठन हमेशा अच्छे, सुन्दर और सस्ते माल को पैदा करने में लगे रहते हैं। यह तभी संभव है जब कारखानों में आधुनिकतम यंत्र हों, अच्छी से अच्छी देखभाल हो; उत्पादन में अधिक से अधिक किफायतशारी और सावधानी बरती जाय। का .
कुशलता और व्यय में कमी पूंजीवादी व्यवस्था का प्रधान लक्ष्य ...

इस अर्थव्यवस्था में योग्यतम व्यक्तियों को बड़े से बड़ा
का मौका मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की
कि वह अपनी इच्छानुसार जो भी काम करना चाहे

है जिससे वह सस्ता पड़ सकता है। इसके लिए बहुत बड़े परिमाण में कच्चे माल और नवीनतम तथा विशालतम मशीनों की आवश्यकता है, फलतः व्यवसाय इतने बड़े पैमाने पर संगठित किया जाता है कि वह कारपोरेशन या गिरोह के हाथ में जाता है और वे मजबूत और विस्तृत संगठन अपने राष्ट्र के उस व्यापार विशेष को ही नहीं बल्कि दुनिया भर के उस व्यापार पर अधिकार जमाने में प्रयत्नशील रहते हैं अतः यह पद्धति केन्द्रीकरण को बल प्रदान करती है। इस तरह के केन्द्रित व्यवसाय में आवश्यक विराट पूंजी का जितना अधिक भाग जो लगा सकते हैं वे ही उसे संचालित करते हैं और अधिकांश मुनाफा उन्हीं की जेब में जाता है। इस प्रकार धनिक वर्ग ही इससे अधिक से अधिक लाभ उठाते हैं और वे अधिकाधिक धनी होते जाते हैं।

केन्द्रित और विशाल पैमाने के उद्योग को सस्ता से सस्ता चलाने के लिये तथा अधिक से अधिक माल जल्दी से जल्दी तैयार करने की दृष्टि से विशालतर और जटिलतर यंत्रों का आविष्कार और उपयोग किया जाता है, परिणाम स्वरूप मशीनों का उत्पादन और उद्योग स्वयं ही एक बहुत बड़ा केन्द्रित उद्योग बन जाता है, जो कुछ व्यक्तियों के आधिपत्य में होता है; अतः आविष्कारक भी पूंजीपतियों के वेतन-भोगी होकर रह जाते हैं। इस तरह के बड़े उत्पादन की खपत के लिये तथा उसके लिये कच्चा माल प्राप्त करते रहने के लिये, बाजार खोजने और उसे कायम रखने के लिये, विशाल क्रय-विक्रय, आयात-निर्यात, प्रचार-प्रकाशन के संगठन कायम किये जाते हैं और उन पर विराट धन राशि व्यय की जाती है। जो बड़े पैमाने पर उद्योग धन्धे संगठित कर सकते हैं और इस प्रकार विराट संगठन बना सकते हैं, जिनका प्रभाव विश्वव्यापी होता है, वे ही लाखों व्यक्तियों के भाग्य और युद्ध-शांति के निर्णायक बन बैठते हैं। इस सारी व्यवस्था में अन्य सारे खर्च को मजदूरों के खर्च से अधिक आवश्यक माना जाता है और फलतः ऐसी मशीनों का आविष्कार किया जाता है जिससे मजदूरों की संख्या कम से कम रहे और वह घटती जाय। दूसरी तरफ कम से कम मजदूरी में काम कर सकने वाले बालकों, स्त्रियों अथवा पुरुषों को क[illegible]गाया जाता है।

तथा उन्नीसवीं शताब्दी में जब आधुनिक पूँजीवाद पनपा और प्रबल हुआ तब इसकी सफलता की चकाचौंध से संसार मुग्ध हो गया। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर समाज की अर्थ व्यवस्था को आधारित करने का बहुत बड़ा आकर्षण यूरोप और अमेरिका में हुआ तथा उसकी देखादेखी एशिया भी उसी जाल में फँसता गया, लेकिन बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही पूँजीवादी समाज व्यवस्था के दोष प्रगट होने लगे हैं और गये दो विश्व-युद्धों के बाद तो पूँजीवाद के दोष इतने गंभीर रूप में सामने आ गये हैं कि विशुद्ध पूँजीवाद का आज शायद ही कोई अनुमोदक रहा हो। अमेरिका जो आज पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा समर्थक माना जाता है वह भी राज्य को समाज के प्रतिनिधि के रूप में अधिकाधिक सत्ता प्रदान करता जा रहा है।

पहले पूँजीवादी प्रथा के तथाकथित गुणों की ही परीक्षा की जाय।

(१) स्वार्थपरता —पूँजीवाद का सबसे बड़ा गुण स्वार्थ की प्रेरणा-शक्ति बतलाई गई है, लेकिन वही इसका सबसे बड़ा दुर्गुण बन गया है, क्योंकि स्वार्थ की प्रेरणा शक्ति भयङ्कर स्वार्थपरता का रूप धारण कर लेती है, पूँजीवादी व्यवस्था में धन ही मानव का एकमात्र देवता और लक्ष्य रह जाता है। सौदागर, अध्यापक, शासक, सिपाही, वैद्य, वकील सभी केवल अधिक से अधिक धन कमाने और निजी लाभ और स्वार्थ की सिद्धि में लगे रहते हैं, इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में स्वार्थ और लोभ की नितान्त वृद्धि हो गई है, अतः मानव की वैयक्तिक सम्पत्ति से होने वाली प्रेरणा को कायम रखते हुए उसे स्वार्थपरता, धन की पूजा और लोभ से किस प्रकार रोका जाय, यह विकट समस्या आज के पूँजीवाद के सामने है।

(२) प्रतिस्पर्धा दोषपूर्ण—पूँजीवाद का दूसरा गुण प्रतिस्पर्धा बतलाया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप पूँजीवादी सङ्गठन श्रेष्ठ और सस्ता उत्पादन कर सकते हैं। इसमें सबसे पहली विचारणीय बात तो यह है कि मानव समाज की प्रगति का वास्तविक सिद्धान्त प्रतिस्पर्धा है या

चुने और करे और जो भी मुनाफा मिले उसका उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक करे। इस प्रथा से काम करनेवालों में मिलजुल कर काम करने को भावना उत्पन्न और विकसित होती है, अनुशासन की वृद्धि होती है, समय के मूल्य को समझने और उसकी पाबन्दी करने की आदत पड़ जाती है, क्योंकि इसके बिना बड़े पैमाने के संगठनों में काम हो ही नहीं सकता।

(३) **आराम** की वस्तुओं की अधिकता—इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप आम जनता को भी आवश्यकता, सुविधा और विलास की ऐसी वस्तुएं इतनी अधिक मात्रा में और इतने कम मूल्य में प्राप्त हो जाती हैं जिसकी कल्पना भी करना कठिन है और जो आज से सौ वर्ष पहले बड़े-बड़े राजा महाराजाओं को भी नसीब नहीं हो सकती थीं। वस्तुओं की विविधता और भिन्नता बहुत अधिक बढ़ गई है। बड़े पैमाने के यंत्रित उत्पादन से ही यह संभव हो सका है।

(४) **अन्योन्याश्रयिता की वृद्धि**—इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप एक ही राष्ट्र की विभिन्न वर्ग की जनता में ही नहीं बल्कि विभिन्न राष्ट्रों में भी अन्योन्याश्रयिता बहुत अधिक बढ़ गई है। जाति, रक्त, प्रांत भाषा, राष्ट्र के भेद टूट से गये हैं और बड़े पूंजीवादी संगठन इन सब, भेदभावों को दूरकर सभी लोगों को अपने संगठन में शामिल कर सके हैं। इसके अलावा प्रत्येक देश की जनता दूसरे देश में होनेवाली घटनाओं से प्रभावित होने लगी है। भारत में पड़नेवाले अकाल का असर अमेरिका, चीन और अरजेंटिना के किसानों पर पड़ता है और अमेरिका, इंगलैंड या जर्मनी में होनेवाले आविष्कार का असर भारत के सामान्य ग्रामीण तक पहुँच जाता है। अमेरिका की रुई के भाव में कुछ सैंटों की घटाबढ़ी से भारत के व्यापारी लाखों की खोई कमाई कर डालते हैं। इस प्रकार पूंजीवादी प्रथा के परिणाम स्वरूप सारा विश्व एक दूसरे से आर्थिक क्षेत्र में बंध गया है।

तथागणित गुणों की परीक्षा

पूँजीवादी व्यवस्था के तथा कथित गुणों के साथ इसके दोषों पर भी कर लेना आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में

तथा उन्नीसवीं शताब्दी में जब आधुनिक पूँजीवाद पनपा और प्रबल हुआ तब इसकी सफलता की चकाचौंध से संसार मुग्ध हो गया। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर समाज की अर्थ व्यवस्था को आधारित करने का बहुत बड़ा आकर्षण यूरोप और अमेरिका में हुआ तथा उसकी देखादेखी एशिया भी उसी जाल में फँसता गया, लेकिन बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही पूँजीवादी समाज व्यवस्था के दोष प्रगट होने लगे हैं और गये दो विश्व-युद्धों के बाद तो पूँजीवाद के दोष इतने गंभीर रूप में सामने आ गये हैं कि विशुद्ध पूँजीवाद का आज शायद ही कोई अनुमोदक रहा हो। अमेरिका जो आज पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा समर्थक माना जाता है वह भी राज्य को समाज के प्रतिनिधि के रूप में अधिकाधिक सत्ता प्रदान करता जा रहा है।

पहले पूँजीवादी प्रथा के तथाकथित गुणों की ही परीक्षा की जाय।

(१) स्वार्थपरता —पूँजीवाद का सबसे बड़ा गुण स्वार्थ की प्रेरणा-शक्ति बतलाई गई है, लेकिन यही इसका सबसे बड़ा दुर्गुण बन गया है, क्योंकि स्वार्थ की प्रेरणा शक्ति भयङ्कर स्वार्थपरता का रूप धारण कर लेती है, पूँजीवादी व्यवस्था में धन ही मानव का एकमात्र देवता और लक्ष्य रह जाता है। सौदागर, अध्यापक, शासक, सिपाही, वैद्य, वकील सभी केवल अधिक से अधिक धन कमाने और निजी लाभ और स्वार्थ की सिद्धि में लगे रहते हैं, इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में स्वार्थ और लोभ की नितान्त वृद्धि हो गई है, अतः मानव की वैयक्तिक सम्पत्ति से होने वाली प्रेरणा को कायम रखते हुए उसे स्वार्थपरता, धन की पूजा और लोभ से किस प्रकार रोका जाय, यह विकट समस्या आज के पूँजीवाद के सामने है।

(२) प्रतिस्पर्धा दोषपूर्ण—पूँजीवाद का दूसरा गुण प्रतिस्पर्धा बतलाया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप पूँजीवादी सङ्गठन श्रेष्ठ और सस्ता उत्पादन कर सकते हैं। इसमें सबसे पहली विचारणीय बात तो यह है कि मानव समाज की प्रगति का वास्तविक सिद्धान्त प्रतिस्पर्धा है या

(४) भौतिक साधनों की अधिकता का अर्थ अधिक सुख नहीं—पूँजीवादी व्यवस्था का चौथा गुण आराम और विलास की चीजों की विविधता, बहुतायत और रसस्वादन है, लेकिन पहली बात तो यह है कि यह विशेषता विज्ञान की उन्नति के कारण है जो अन्य प्रकार की अर्थ व्यवस्थाओं में भी सम्भव है और दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि वस्तुओं की बहुतायत और विविधता क्या अपने आप में मानव के सुख, शांति और समृद्ध के लिये आवश्यक और उपयोगी है ? क्या इससे मानव को अधिक सुख मिला है ! और फिर क्या यह प्रत्येक नागरिक के लिये प्राप्य है ?

(५) दुनिया का संकोच या शोषण का विस्तार—पूँजीवादी व्यवस्था का पांचवां गुण राष्ट्र के अंतर्गत तथा बाहर अन्योन्याश्रयिता का बतलाया जाता है। दुनिया का जो संकोच यातायात और सम्वाद वहन के साधनों की उन्नति और विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति के परिणाम-स्वरूप हुआ है और उसके कारण दुनिया भर के लोगों को एक दूसरे को जानने समझने का और एक दूसरे की विपत्तियों में सहायक होने, व्यापार व्यवसाय को बढ़ाने का जो मौका मिला है उसका श्रेय पूँजीवाद को नहीं दिया जा सकता। पूँजीवाद ने विश्व भर के पूँजीपतियों को उत्पादन के विशाल कार्य में अधिकाधिक सङ्गठित होने का अवसर अवश्य दिया है जिसके परिणाम स्वरूप उनके शोषण का जाल अधिक विस्तृत, अधिक जटिल और अधिक शक्तिशाली हो गया है। इससे साम्राज्यवाद, अधिनायकवाद, सैनिकवाद, आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय कलह, दमन और शोषण को ही प्रश्रय और बल मिला है, परिणामस्वरूप मानव का जीवन अधिक दुखपूर्ण, जोखिम भरा और पराधीन हो गया है और जातीयता धार्मिकता, प्रान्तीयता आदि की जो दीवारें टूटी हैं उनके कारण न केवल उनसे प्राप्त होने वाले लाभों से मानव वंचित रहा है, किन्तु उनके टूटने से मानव जीवन में जो दृष्टिकोण और कर्म की विशदता, उदारता, पारस्परिक सहयोग और सहायता की भावना जितनी आनी चाहिये थी वह नहीं

आई और उसके विपरीत मानव अधिक स्वार्थी, लोभी, हिंसक और झूठा बन गया।

पूंजीवादी व्यवस्था के अन्य दोष

पूँजीवादी व्यवस्था के तथाकथित गुणों पर विचार कर लेने और उनके खोखलेपन तथा झूठे दावों की परीक्षा कर लेने के बाद अब हमें पूँजीवादी प्रथा के घोषित दोषों की ओर दृष्टिपात करना चाहिये जिनके कारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था संसार में बदनाम हो चुकी है, और वे देश भी जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के आज समर्थक हैं, इसमें संशोधन और सुधार कर रहे हैं और करना चाहते हैं।

(१) आंतरिक लूट—पूँजीवादी अर्थ और समाज व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह हिंसा पर आधारित और हिंसा को बल देने वाली है अतः वह मानव स्वभाव और मानव कल्याण दोनों के विरुद्ध है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन में सहायक सभी लोगों को उनके काम अथवा उनकी आवश्यकता के अनुकूल लाभ में हिस्सा मिलना चाहिये। लेकिन वास्तव में होता यह है कि पूँजीपति अथवा उद्योगपति को लाभ का अधिक अंश मिल जाता है, वह अधिकाधिक धनी होता जाता है, और कर्मचारी तथा मजदूर पेट भी मुश्किल से भर पाते हैं, और दिन दिन गरीब होते जाते हैं। पूँजीपति उस बढ़ते हुए अतिरिक्त धन को कारोबार में लगाता जाता है और बिना हाथ पैर हिलाये बेहिसाब ... रहता है और मज़दूर आधे पेट रहता है, टूटे फूटे घर में ... है, अस्वस्थ और अशिक्षित स्वयं रहता है और परिवार ... ँजीपति यह कानूनी लूट इस अर्थव्यवस्था के कारण ... हो जाता है। इस लूट से बचने के लिये मजदूर सङ्घ ... इसका विरोध करते हैं, या नफे में से कुछ हिस्सा मांगते ... वस्था में कुछ भाग चाहते हैं तो इस व्यवस्था पर आधा- ... । दमन करती है और इस तरह रोटी के बदले पत्थर ही ... आता है। यह प्रथा स्पष्ट ही समाज में आंतरिक कलह,

असंतोष और झगड़े को जन्म देती है और जनता की गरीबी, गुलामी और कमजोरी पर ही पनपती और फलती-फूलती है।

(२) बाहरी लूट—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था केवल अपने राष्ट्र के अन्तर्गत इस प्रकार की कानूनी लूट चलाकर ही शांत नहीं हो जाती, वह इस लूट को बाहर भी चलाना चाहती है। कच्चे माल को कम से कम मूल्य में प्राप्त करने और तैयार माल को अधिक से अधिक मूल्य पर बेचने के लिये पूँजीवादी, उद्योगपति तथा व्यापारी अपने राष्ट्र के बाहर अपनी आँखें फेरते हैं और कमजोर या बेखबर देशों से अपना व्यापार सम्बन्ध स्थापित करते हैं और सम्भव हुआ तो व्यापार का अनुगमन राष्ट्र का झंडा करता है और इस तरह पूँजी के प्रभाव से कोई न कोई बहाना निकाल कर पूँजीपति अपना प्रभाव जमा लेते हैं या अपना आधिपत्य धीरे या देर से कायम कर लेते हैं। वे देश अगर इस गुलामी और धोखाधड़ी को समझ कर विरोध करते हैं तो शान्ति और व्यवस्था के नाम पर उनका दमन किया जाता है, उन्हें गोलियों का शिकार बनाया जाता है अथवा दूसरे पूँजीवादी देश किसी एक देश को इतना लाभ उठाते देखकर प्रतिस्पर्धा करने को आ कूदते हैं तो आपस में युद्ध छिड़ जाता है अथवा लुटेरों की तरह क्षेत्र बांट लेते हैं और इसे प्रभाव क्षेत्रों का विभाजन कहा जाता है। इन सारे उद्देश्यों की पूर्ति में आत्मनिर्णय, जनहित, लोकतन्त्र, स्वाधीनता, राष्ट्रीयता आदि के नाम पर गुलाम देशों की प्रजा को भुलावे दिये जाते हैं और सम्भव हुआ तो उन देशों की जनता को भी उभार कर, आपस में लड़कर सिर कटा लेने को उत्साहित किया जाता है और इस लड़ाई के दौरान में और इसके जरिये भी इस खून खराबी से भी पैसा पैदा करने और मुनाफा कमाने की कोशिश की जाती है और युद्ध स्वयं ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उद्योगपति तथा व्यापारियों के लिये कामधेनु बन जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था दूसरों की प्रत्येक मुसीबत और कष्ट, रोग और मृत्यु को अर्थ-लाभ का साधन बना लेती है। भूकम्प और महामारी, गरीबी और अकाल, युद्ध और विद्रोह, सभी पूँजीपति को अधिकाधिक धनी बनने में ही मददगार होते हैं।

(३) यांत्रिकता से हानि—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में यन्त्रों का अधिक उपयोग होने और औद्योगिक इकाइयों के अधिकाधिक बड़े पैमाने पर संगठित होने के कारण कुछ गिनती के पूँजीपतियों को छोड़ कर बाकी सभी वेतनभोगी कर्मचारी या मजदूर मात्र रह जाते हैं जो पूँजीपतियों के दास बन जाते हैं। उन्हें एक या दूसरे कारखाने में गुलामी करनी पडती है और दूसरों के इशारे पर चलना पड़ता है।

(४) संकटों का भार—वर्तमान समय में इन बड़े उद्योग धन्धों पर बाहरी और इतने दूर के कारणों से संकट उपस्थित हो जाते हैं कि उनकी पहले से ही कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। सुदूर के संकट, बैंकों के दिवाले, व्यवसाय की तेजी मन्दी, दूर के युद्ध या शान्ति, नये आविष्कार, फैशन और उपयोग—कब उक्त उद्योग को खतरे में डाल देंगे, यह कहना असम्भव ही हो जाता है। फिर प्रत्येक उद्योग अपने से बड़े पैमाने के उद्योग के सस्तेपन और श्रेष्ठ उत्पादन की आशङ्का का शिकार रहता है, अतः इस व्यवस्था में काम करनेवालों के जीवन और आजीविका की अनिश्चितता और लाचारी का कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता और इसी मे कब कौन बेकार हो जायगा—पहले से कहना कठिन होता है। मन्दी का चक्र, व्यवसाय का विकास, नये स्वचलित यंत्रों द्वारा उत्पादन अधिकाधिक बेकारी को बढ़ाते हैं। अमरीका और इङ्गलैंड तक में लाखों और करोडों लोगों को सरकार बेकारी का भत्ता देकर उन्हें जीवित रखती है। यह स्थिति तब है जब अमरीका और ब्रिटेन के आर्थिक जाल में आधे से अधिक जगत है। जब दुनिया के सभी तथाकथित पिछड़े देशों में पूँजीवादी परिपाटी के अन्तर्गत यन्त्रीकरण और औद्योगीकरण हो जायगा तब बेकारों की संख्या इतनी अधिक हो जायगी कि यह व्यवस्था अपने भार से ही ढह कर गिर पड़ेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं लगता।

(५) वेतनजीवियों का ह्रास—पूँजीवादी प्रथा के अन्तर्गत रुपये दृष्टि से मजदूरों और कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि हुई है, लेकिन ऊँची रहनसहन और खर्च के परिणाम स्वरूप वे पहले से अधिक कंगाल

और दुखी हैं, पहले से कम भत्ता पाते हैं और पहले से ज्यादा कर्जदार, असन्तुष्ट और कष्ट में हैं—फलतः अधिक दरिद्र हैं, इसमें दो राय नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जो थोड़ी बहुत वृद्धि मजदूरों और कर्मचारियों के वेतन में हो पाई है, वह ऐसी प्रथा पर आधारित है जो उसी देश के या अन्य देशों के लोगों और प्राकृतिक साधनों के शोषण पर जीती है—जैसे जैसे औद्योगीकरण और पूँजीवाद का विस्तार होगा, यह क्षेत्र संकुचित हो जायगा और यह तथाकथित वृद्धि भी कायम नहीं रह सकती-फलतः इस प्रथा के अन्तर्गत मजदूरों और कर्मचारियों की गरीबी, खर्चीलेपन, असन्तोष, अभाव और कष्टों में वृद्धि होना अनिवार्य ही है।

(६) केन्द्रीकरण की हानियाँ—पूँजीवादी अर्थ संगठन के अन्तर्गत केन्द्रीकरण अनिवार्य है और यह केन्द्रीकरण आबादी का भी होता है, फलतः अधिकाधिक लोगों को कारखानों के गन्दे वातावरण में कम से कम जगह में जीवन बिताना पड़ता है। काम के अरुचिकर होने, पौष्टिक भोजन के अभाव, अशिक्षा, अस्वास्थ्यकर और अनैतिक वातावरण के परिणामस्वरूप उनमें बुरी आदतें पड़ जाती हैं, वे रोगों के शिकार हो जाते हैं तथा अपराध करने लगते हैं और इस प्रकार वे अपने तथा अपने परिवार के जीवन को बर्बाद कर लेते हैं और परिणामतः राष्ट्र की पीढ़ी की पीढ़ी शारीरिक और नैतिक ह्रास की शिकार हो जाती है।

(७) वर्ग-द्वेष अनिवार्य—पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर और कर्मचारियों में पूंजीपतियों के प्रति असंतोष, द्वेष, घृणा और शत्रुता की भावना स्वयमेव ही उत्पन्न होकर बलवती बनती जाती है। इनके परिश्रमपूर्ण और अभावयुक्त जीवन की तुलना पूँजीपतियों के विलासपूर्ण और आरामयुक्त जीवन से होती है और फलतः वर्ग विद्वेष का जन्म होता है और जब तक पूँजीवाद रहेगा यह वर्ग विद्वेष बराबर ही रहेगा और इस प्रकार पूँजीवाद स्वयं ही अपनी कब्र खोदता जायगा। पूँजीवाद जब तक रहेगा तब तक समाज को कष्ट देता रहेगा और अगर उसकी मौत, वर्गवाद और वर्गयुद्ध के कारण हुई तो वह सारे समाज को खून में स्नान

करा कर ही होगी। इस प्रकार वह समाज का बहुत बड़ा अपकारक ही होगा।

(८) धन की पूजा—पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति में चाहे वह गरीब से गरीब हो और चाहे धनी से धनी हो असीम धन की लिप्सा उत्पन्न करती है और उसे बढ़ाती है। मानव की प्रतिष्ठा और बड़प्पन आदर्श और नैतिक साधन में नहीं बल्कि धन में केन्द्रित मान लिया जाता है और परिणामतः यह व्यवस्था पूँजीपति और मजदूर, कर्मचारी और अधिकारी, सभी को पतित, अनैतिक और असंतुष्ट—संक्षेप में दुःखी बनाती है।

पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था उल्टी और अस्वाभाविक—

यह व्यवस्था मानव हित की दृष्टि से बिल्कुल उल्टी और अस्वाभाविक है,क्योंकि यह उपयोग की दृष्टि से उत्पादन न करके नफे की दृष्टि से उत्पादन करती है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन अनाप शनाप होता है, अनावश्यक वस्तुओं का हो जाता है और इस अनियमित उत्पादन में प्राकृतिक साधनों की भयंकर बर्बादी होती है। फिर इस अधिक उत्पादन को या तो वह अमेरिका की तरह मूल्य कायम रखने या बढ़ाने के लिए जला डालती है, समुद्र में डुबो देती है या उत्पादन बंद करके गरीबों और मजदूरों का सर्वनाश कर देती है, अन्यथा वह विज्ञापन और घूसखोरी के विशाल, प्रत्यक्ष और परोक्ष साधनों के जरिये उनकी माँग पैदा करती है, रुचि पैदा करती है. और बाहर के अपेक्षाकृत कम ताकतवर लोगों पर कब्जा जमाती है, जैसे भी हो उनके गले में उस माल को उड़ेलती है। एक तरफ वह अखबारों, विश्वविद्यालयों, सार्वजनिक संस्थाओं, धर्म संस्थानों, सरकारी संगठनों आदि पर कब्जा जमाती है, दूसरी ओर वह राष्ट्रीयता की आड़ में, धर्म की आड़ में शान्ति और व्यवस्था के नाम पर, लोकतन्त्र की आड़ में, अन्तार्राष्ट्रीयता के आवरण में आंतरिक दमन और बाहरी युद्ध के साधन बढ़ाने में मददगार होती है। यही नहीं, इनके द्वारा सीधे रूप में पूंजीपतियों को मोटा आर्थिक मुनाफा

होता है। शस्त्रास्त्रों को हमेशा नवीनतम आविष्कारों के अनुकूल रखने में, नये से नये हवाई जहाज, समुद्री जहाज आदि बनाने में पूंजीपतियों को बेहद लाभ होता है। इस तरह वे परोक्ष तथा प्रत्यक्ष दोनों रूप में शस्त्रास्त्र उद्योग से लाभ उठाते हैं, राष्ट्रों में युद्धज्वर पैदा करते और उसे कायम रखते हैं। यही नहीं, पूंजीपति इन्हीं आविष्कारों की उन्नति, उद्योग धन्धों की प्रगति, राष्ट्र के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि आदि के नाम पर सार्वजनिक धन का उपयोग, वैज्ञानिक और प्रशिक्षण संबंधी सहायता, आर्थिक मदद, करों में कमी या छूट, नियंत्रण आदि के लाभ अनेक रूपों में प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पूंजीवादी प्रथा हरेक उपाय से अपने आपको ही मोटा करती है और युद्ध, विनाश, असंतोष और दुःख को उसने वर्तमान दुनिया का एक आवश्यक और अनिवार्य अंग ही बना दिया है।

परावलम्बन वृत्ति की जननी—यही नहीं पूंजीवादी व्यवस्था ने सारे समाज की कल्पना तथा सृजनात्मक शक्ति और आनन्द को कुंठित और खतम कर दिया है। खान-पान, रहन-सहन, स्वभाव-आदत, विनोद, कला-कौशल सब में यह उस प्रथा का गुलाम बन गया है। खाने में अधिकाधिक डिब्बों के भोजन और मिठाइयों का व्यवहार होता है, पीने के लिए शराब, कोको आदि बड़े पैमाने पर तैयार किये गये खाद्यों और पेयों का उपयोग होता है। मिलों के सिले सिलाये वस्त्र, जूते आदि काम में आते हैं, इस तरह विज्ञापन और फैशन के नाम पर हम अपनी व्यक्तिगत पसंद और रचना से हाथ धो बैठते हैं और जीवन के हरेक अंग में इनके गुलाम बन जाते हैं। यही नहीं इन सारी चीजों की बिक्री में भी केन्द्रीय स्टोरों या चेन स्टोरों का तांता हमें पूंजीपतियों का अधिकाधिक गुलाम बना देता है।

यह परावलंबन विनोद और विश्राम तक पर छा गया है। व्यक्तियों के विभिन्न दलों द्वारा मुहल्ले मुहल्ले और गांव गांव में खेले जाने वाले खेलों, नाटकों, तमाशों की जगह सिनेमा के पूंजीवादी उद्योग ने ले ली है। वह एक तरफ लोगों में विलास की, अनैतिकता की, अपराध की प्रवृत्ति को उत्पन्न करता और भड़काता रहता है दूसरी तरफ शराबखोरी, घुड़दौड़, सट्टेबाजी,

कलह आदि को प्रोत्साहित करके जीवन को अप्राकृतिक और विकृत बनाती है। तीसरी ओर इससे मानव के व्यक्तित्व का विनाश हो गया है। लोगों का खाना पीना, कपड़े, शिक्षा, अखबार, विचार सब मानों एक ही कारखाने में ढले हुए आते हैं। भौतिक साधन अवश्य बढ़े और सुधरे हैं लेकिन मानव का व्यक्तित्व खतम ही हो गया है, वह परावलम्बी, दास और पतित होकर यंत्र का एक पुर्जा मात्र बन कर रह गया है। यह तथाकथित समृद्धि और भौतिक साधन हमें कितने मंहगे मिले हैं?

स्वयमेव सर्वनाश निश्चित— इस तरह की निकृष्ट समाज और अर्थ-व्यवस्था जो मानव-समाज और मानव-व्यक्तित्व दोनों का विनाश करनेवाली है अधिक समय तक नहीं टिक सकती—खासकर जब उसमें स्वयं अपने सर्वनाश के कीटाणु मौजूद हैं। इसे राजकीय समाजवाद का पुट देकर—कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके तथा राज्य को अधिकाधिक समाज सेवा संबंधी अधिकार और शक्तियां देकर जैसा अमेरिका और इंगलैंड में किया जा रहा है और अन्य पूंजीवादी देशों में भी प्रयत्न है कुछ समय तक टिकाया जा सकता है, लेकिन यह स्थायी नहीं हो सकता क्योंकि जब तक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कायम है, यह स्थिति और शक्ति की विषमता से उत्पन्न पूंजीपति और मजदूर के भेद को अवश्य कायम रक्खे और बढ़ायेगी। अतः वर्ग संघर्ष निश्चय ही बढ़ेगा। दूसरी ओर, ज्यों ज्यों अल्प विकसित देशों का औद्योगीकरण और यन्त्रीकरण होता जायगा और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के शोषण के क्षेत्र घटते जायेंगे, वह भारी भरकम होती जायगी। तीसरी ओर, साम्यवादी देशों की प्रगति और पूंजीवादी देशों में साम्यवाद का अधिकाधिक प्रसार तथा बल इसकी शक्ति को अधिकाधिक कुंठित करता जायगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हिंसा पर आधारित और पोषित यह पद्धति स्वयं ही अपने आन्तरिक और बाहरी शत्रुओं द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायगी, इसमें शक नहीं। फासिस्तवाद, नाजीवाद और साम्राज्यवाद जो विकृत पूंजीवाद के परिष्कृत रूप हैं मानव की भावनाओं [illegible] करके उन्हें भुलावा देकर कुछ समय तक पूंजीवाद [illegible] वह

ददता क्षय के रोगी के मुख की कान्ति से अधिक वास्तविक नहीं है। वह उसकी दिखाऊ समृद्धि की अवस्था में ही नाश के मकान की तरह कभी भी ढह जाने वाली है। पूंजीवादी अर्थ और समाज व्यवस्था इस दुनिया में कायम नहीं रह सकेगी, उसका खतम होना अनिवार्य है—चाहे वह खतम होने की पद्धति बहुत लंबी हो या थोड़ी हो, चाहे उसमें भयंकर हत्याकांड और रक्तपात हो अथवा वह स्वेच्छापूर्वक और वैध तरीके से सम्पन्न कर दी जाती हो।

पूंजीवादी समाज और अर्थ व्यवस्था का अंत विधि के विधान की भांति अनिवार्य है। इतना अवश्य है कि शिक्षित मानव आज के भौतिक और सामाजिक विज्ञान के परिणाम स्वरूप विकसित और प्रयुक्त निश्चित योजना पद्धति के आधार पर चाहे तो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अंत करके उसके स्थान पर ऐसी व्यवस्था की स्थापना कर सकता है जो सब के समान कल्याण और सुख पर आधारित हो। लेकिन वह व्यवस्था किस प्रकार की होगी और उसके आधारभूत सिद्धांत क्या होंगे, इन पर विचार करने से पहले एक दूसरे प्रकार की समाज और अर्थ पद्धति पर विचार कर लेना है जो वास्तव में इतनी ही पुरानी है जितनी पूंजीवादी पद्धति—बल्कि इससे भी पुरानी है, किन्तु जिसका वर्तमान विराट प्रयोग इतिहास में पहली बार रूस, चीन तथा पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में हो रहा है और वह लगभग सारी दुनिया के लिए एक आकर्षण और जिज्ञासा का केन्द्र बन गई है, किन्तु साथ ही जिसने आधी से अधिक दुनिया को अपना प्राणघातक शत्रु भी बना लिया है।

दहता क्षय के रोगी के मुख की कान्ति से अधिक वास्तविक नहीं है। वह उसकी दिखाऊ समृद्धि की अवस्था में ही ताश के मकान की तरह कभी भी ढह जाने वाली है। पूंजीवादी अर्थ और समाज व्यवस्था इस दुनिया में कायम नहीं रह सकती, उसका खतम होना अनिवार्य है—चाहे वह खतम होने की पद्धति बहुत लंबी हो या थोड़ी हो, चाहे उसमें भयंकर हत्याकांड और रक्तपात हो अथवा वह स्वेच्छापूर्वक और वैध तरीके से सम्पन्न कर दी जाती हो।

पूंजीवादी समाज और अर्थ व्यवस्था का अंत विधि के विधान की भांति अनिवार्य है। इतना अवश्य है कि शिक्षित मानव आज के भौतिक और सामाजिक विज्ञान के परिणाम स्वरूप विकसित और प्रयुक्त निश्चित योजना पद्धति के आधार पर चाहे तो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अंत करके उसके स्थान पर ऐसी व्यवस्था की स्थापना कर सकता है जो सब के समग्र कल्याण और सुख पर आधारित हो। लेकिन यह व्यवस्था किस प्रकार की होगी और उसके आधारभूत सिद्धांत क्या होंगे, इन पर विचार करने से पहले एक दूसरे प्रकार की समाज और अर्थ पद्धति पर विचार कर लेना है जो वास्तव में इतनी ही पुरानी है जितनी पूंजीवादी पद्धति—बल्कि इससे भी पुरानी है, किन्तु जिसका वर्तमान विराट प्रयोग इतिहास में पहली बार रूस, चीन तथा पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में हो रहा है और यह लगभग सारी दुनिया के लिए एक आकर्षण और जिज्ञासा का केन्द्र बन गई है, किन्तु साथ ही जिसने आधी से अधिक दुनिया को अपना प्राणघातक शत्रु भी बना लिया है।

दूसरा अध्याय

साम्यवादी अर्थ व्यवस्था की कमियाँ

समाजवाद: सभी आर्थिक क्रिया प्रधानतः उत्पादन के साधन और व्यवहार पर व्यक्तिगत किसी का अधिकार न हो, बल्कि वह किसी न किसी रूप में समाज के अधिकार में हो—यही समाजवाद का आधार भूत सिद्धान्त है। समाजवाद वैसे मानव जितना ही पुराना है क्योंकि उत्पादन का लाभ मानव समाज का विशेष हितकर और है—यह प्रथा पुरानी से पुरानी समाज-व्यवस्थाओं में भी पाई गई है, किन्तु १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पश्चिमी दुनिया में पूँजीवाद तथा यांत्रिक औद्योगीकरण की बुराइयों के निराकरण के रूप में उत्पादन के साधनों पर समाज के अधिकार का समर्थन किया गया। इसे ही समाजवाद कहा गया। समाजवाद के बहुत से सूक्ष्म भेद प्रभेद गये सवा सौ वर्ष में यूरोप और अमेरिका के विचारकों ने कर लिये। इनमें अधिकांश भेद दो बातों पर हुए। एक तो यह कि उत्पादन के साधनों पर समाज के किस रूप का अधिकार हो—यह अधिकार राज्य का हो, सहयोग समितियों का हो, व्यवसाय संघों का हो, दूसरा यह कि वह धीरे धीरे प्राप्त किया जाय अथवा तुरन्त प्राप्त किया जाय। इन्हीं मतभेदों के कारण एक ओर राज्यकीय समाजवाद, सिंडिकलिज्म और गिल्ड समाजवाद का तथा लोकतन्त्रीय समाजवाद, विकासशील समाजवाद या फेबियनिज्म का जन्म हुआ। दूसरी ओर क्रांतिकारी समाजवाद, मार्क्सवाद, बोल्शेविज्म, या साम्यवाद की विचारधारा पनपी और प्रबल हुई। वैसे समाजवाद के नाम में इन सारी विचारधाराओं को शामिल किया जा सकता है लेकिन दरअसल सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग साम्यवादी रूस का है और साम्यवाद के सिद्धान्त और व्यवहार में आम तौर पर रूस का उदाहरण ही प्रायः लिया जाता है क्योंकि वही इस दिशा में सबसे आगे बढ़ा है, अतः पूंजीवादी [illegible] व्यवस्था के विवेचन के बाद साम्यवादी अर्थ व्यवस्था पर [illegible] क है।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था के लाभ

साम्यवादी अर्थव्यवस्था द्वारा होने वाले लाभ बहुत कुछ इस प्रकार बतलाये जाते हैं :—

(१) उत्पादन की बहुलता—आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणाम स्वरूप अधिक उत्पादन का लाभ सबको मिल सकेगा। इसके अन्तर्गत अधिक से अधिक आवश्यकता, सुविधा और विकास की वस्तुओं का उत्पादन अधिक से अधिक बढ़ाया जा सकता है और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में जिस प्रकार उत्पादन नियन्त्रित करना आवश्यक हो जाता है उसकी यहां आवश्यकता नहीं है, क्योंकि राष्ट्र उत्पादन करता है अतः व्यक्तिगत नफे का प्रश्न नहीं रहता। ऐसी स्थिति में अधिक उत्पादन में भय नहीं और सबको अधिक से अधिक आराम और सुविधा का अवसर है।

(२) यन्त्रों से काम—साम्यवादियों का कथन है कि यन्त्रों में अपने आप में कोई बुराई नहीं है। अगर हम यन्त्रों का उपयोग कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए ही न करके सारे जन समाज के समान लाभ के लिये करें तो उसमें कोई बुराई नहीं है बल्कि यान्त्रिक व्यवस्था को कायम करने और बढ़ाने से समाज का लाभ ही होगा, अतः साम्यवाद यंत्रीकरण और औद्योगीकरण का समर्थन करता है।

(३) उत्पादन में मितव्ययिता—साम्यवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जब उत्पादन पर राष्ट्र का स्वामित्व रहता है और उसका संचालन एक व्यक्ति के हाथ में न होकर एक समूह या दल के हाथ में होता है, तब पारस्परिक स्पर्धा से होने वाली श्रम, अर्थ और सामान की बर्बादी नहीं होती, आवश्यकता के अनुरूप ही उत्पादन होता है, अतः उत्पादन अधिक सस्ता, उपयोगी और आवश्यक होता है।

(४) आवश्यकताओं की पूर्ति—साम्यवाद की दृष्टि में उत्पादन का उद्देश्य लाभ की प्राप्ति न होकर आवश्यकता की पूर्ति है। इसमें वह पूँजीवादी व्यवस्था में मानव को शोषकों का यन्त्र बनाने के

बजाय उत्पादन को मानव की आवश्यकता का साधन बनाना चाहता है। इस प्रकार वह अर्थव्यवस्था में मानव को समुचित स्थान देना चाहता है।

(५) **स्वार्थ के स्थान पर सामाजिकता**—पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था व्यक्तिगत स्वार्थ पर आधारित है, लेकिन इसके विपरीत साम्य-वाद ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहता है जहां सम्पत्ति व्यक्ति विशेष के हाथ में जमा न होकर समाज के हाथ में रहे और सभी उसका उपयोग करें, इस व्यवस्था में स्पर्धा, स्वार्थ और फूट को स्थान न होगा, बल्कि सहयोग, सामाजिकता और सचाई को प्रोत्साहन मिलेगा, और पूँजीवादी व्यवस्था के धार्मिक आडम्बर, शोषण और अज्ञान के बजाय कर्त्तव्य और त्याग पर आधारित सच्ची धार्मिकता को साम्यवादी व्यवस्था में बल मिलेगा।

(६) **दरिद्रता और बेकारी का अन्त**—साम्यवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के सारे साधनों पर समाज का अधिकार होने के कारण उसका प्रयोग सबके लाभ के लिए होता है और उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होता है जो समाज के लिए आवश्यक होती हैं और सबको वितरित की जाती हैं अतः दरिद्रता नहीं रहती। और, बेकारी भी संभव नहीं है, क्योंकि यह राज्य की जिम्मेदारी है कि वह सबको काम दे और राज्य स्वयं जहाँ काम अधिक होगा वहाँ बेकारों को भेज देगा अथवा काम के घन्टों में सबके लिये कमी हो जायगी। इससे उत्पादकों में अरक्षा या भविष्य की अनिश्चितता और अस्थिरता की आशङ्का भी नहीं रह सकती, इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार के सतत भय के बजाय साम्यवादी शासन का नागरिक समृद्ध, कार्य संलग्न और भविष्य की दृष्टि से सुरक्षित रहेगा।

(७) **सच्ची स्वाधीनता और लोकतन्त्र का विकास**—पूंजी-वादी अर्थव्यवस्था वैयक्तिक स्वातंत्र्य पर गर्व करती है, लेकिन दैनिक आवश्यकताओं और अभावों से त्रस्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है और वह किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता; साम्यवादी अर्थ व्यवस्था में ही सबको स्वतन्त्रता मिल सकती है

क्योंकि वहां सबको सुविधायें और काम निश्चित रूप से प्राप्त है, इसी प्रकार लोकतन्त्र भी साम्यवाद में ही सम्भव है क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था में तो सामाजिक और आर्थिक विषमता के कारण लोकतन्त्र का केवल आडम्बर रहता है, उसमें तो शोषित वर्ग शोषकों का गुलाम मात्र है, सच्चा लोकतन्त्र तो सबकी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर ही हो सकता है और यह साम्यवादी अर्थव्यवस्था में ही सम्भव माना जाता है। जहाँ सच्ची स्वाधीनता और सच्चा लोकतन्त्र है, वहीं सबको सुख, सुविधा और प्रगति के समान अवसर हैं। वहां कोई शिक्षा से वंचित नहीं रह सकता, कोई ऊंचा या नीचा धर्म, जाति, धन, वर्ण आदि किसी भी बनावटी भेद के कारण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार साम्यवादी व्यवस्था में ही सबको अपने विकास का समान अवसर मिल सकता है।

(८) विश्राम—पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में केवल शोषक वर्ग को ही विश्राम का अवसर मिलता है। मध्यम श्रेणी तथा मजदूर वर्ग के लोग तो आमदनी की कमी के कारण श्रम में पिसकर चूर होते रहते हैं। इसके अलावा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में यांत्रिक प्रगति के परिणाम-स्वरूप अधिकाधिक संख्या में लोग बेकार हो जाते हैं और भूखों मरने लगते हैं लेकिन साम्यवादी व्यवस्था में एक ओर तो सबको विश्राम का समान अवसर मिलेगा और दूसरे ज्यों ज्यों यांत्रिक उन्नति होती जायगी, त्यों त्यों मजदूरों को बेकार कर भूखों मरने को खुला छोड़ देने के बजाय काम के घंटे कम कर दिये जायेंगे और सबको अधिकाधिक विश्राम मिलने लग जायगा, फलतः उनको जीवन में उन्नति करने का अधिक अवकाश मिल सकेगा।

(९) सांस्कृतिक विकास—विश्राम के आधिक्य के साथ ही साम्यवादी अर्थव्यवस्था आम जनता की सुख सुविधा बढ़ाने पर भी जोर देती है। साहित्यिक, सांस्कृतिक मनोरञ्जन तथा मनोविनोद की ही नहीं बल्कि वैयक्तिक और सामूहिक विकास की योजनाओं को आगे बढ़ाने और आम जनता के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का अवसर भी साम्यवादी अर्थ व्यवस्था में सबको मिल सकता है, क्योंकि वहां सारी सुविधायें

कामनायें किसी व्यक्ति या समाज में पूरी नहीं हो सकती, अतः संतोष और संयम को आधारभूत मानकर परिस्थिति और साधनों से मर्यादित योजनापूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति ही समाज और व्यक्ति के लिए वांछनीय है, अतः *उत्पादन की बहुलता अपने आप में कोई श्लाघनीय* लक्ष्य नहीं है।

(२) यन्त्रों की गुलामी—यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से यह माना जा सकता है कि यन्त्रों की बुराई उनके उपयोग पर निर्भर है, लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि यन्त्र जितने जटिल होंगे उतने ही वे केन्द्रित व्यवस्था को जन्म देंगे और मानव का परावलंबन बढ़ता जायगा और फलतः मानव यंत्रों का गुलाम हुए बिना नहीं रहेगा। यन्त्रीकरण की वृद्धि का परिणाम निश्चित रूप से केन्द्रीकरण और परावलंबन है जो मानव की स्वतन्त्रता और उसके विकास में बाधक ही हो सकता है, सहायक नहीं।

(३) उत्पादन में मितव्ययिता—साम्यवादी अर्थव्यवस्था में यन्त्रों के अधिकाधिक उपयोग से एकमी चीजों के उत्पादन में अवश्य ही मितव्ययिता होगी लेकिन यांत्रिक श्रम करने वालों को श्रम एक अरुचिकर और थका डालने वाला काम रहेगा; एक पूरी चीज को बनाने में जो सृजनात्मक आनन्द और कलात्मक अभिरुचि की अनुभूति और अभिव्यक्ति होती है, वह बड़े पैमाने के यांत्रिक उद्योगों में सम्भव नहीं है। डिब्बों के भोजन, मिलों के सिले सिलाये वस्त्र, फैक्ट्रियों द्वारा तैयार किये हुए मकान आदि में समानता तो हो सकती है, लेकिन उनमें वैयक्तिक रुचि तथा आवश्यकता की पूर्ति और आत्मसंतोष को निश्चय ही कोई स्थान होना सम्भव नहीं है।

(४) आवश्यकताओं की पूर्ति केवल यांत्रिक, मानवीय नहीं—उत्पादन का लक्ष्य वैयक्तिक लाभ न हो - यह बहुत सही और वाजिब सिद्धांत है, लेकिन उसका लक्ष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होकर मानव के समग्र सुख की वृद्धि होना चाहिये। केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लक्ष्य से जो यांत्रिक उत्पादन होगा वह भौतिक

ज़रूरतों को जरूर पूरा करेगा, लेकिन उसमें व्यक्ति के विकास को बहुत थोड़ा स्थान रहेगा, वैयक्तिकता के सम्पूर्ण विनाश के मूल्य पर केवल भौतिक आवश्यकताओं की यांत्रिक पूर्ति बहुत मंहगा सौदा है।

(५) **विश्राम की गलत दिशा**—यह सही है कि साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विश्राम का उपयोग केवल पूंजीपति और धनी लोगों तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि मजदूरों तक को वह प्राप्य और भोग्य हो जाता है। लेकिन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की भांति ही साम्यवादी अर्थ व्यवस्था भी यांत्रिक औद्योगीकरण की स्वीकृति के कारण पहले तो श्रम को अधिक से अधिक अरुचिकर और भार रूप बना लेती है और फिर विश्राम की खोज करती है। विश्राम को अपने काम से अधिक से अधिक दूर कर दिया जाता है और इसकी अधिकता में ही उन्नति की चरम सीमा मान ली जाती है। इस द्राविड प्राणायाम के बजाय अगर श्रम ही रुचिकर हो, हल्का हो और आनन्ददायेक हो, श्रम के एक तरीके को छोड़कर दूसरे तरीके को अपनाने से ही शरीर और मस्तिष्क को आराम मिल जाय तो काम और विश्राम का परस्पर भिन्न और विरोधी रूप ही खत्म हो जायगा और वे परस्पर सहयोगी और सहायक बन जायंगे और विश्राम अपने आप में उन्नति और प्रगति का चिन्ह न रहकर श्रम और काम स्वयं ही प्रगति और जीवन के प्रतीक बन जायंगे। इससे स्पष्ट है कि विश्राम को साम्यवादी अर्थव्यवस्था में जो दिशा दी गई है वह गलत है उसे सही करना जरूरी है।

(६) **अन्य लाभों पर दृष्टि**—साम्यवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्ति-गत स्वार्थ के बजाय सामाजिकता को आधारभूत सिद्धान्त माना गया है, वह सही है और उसी के परिणाम-स्वरूप सच्ची स्वाधीनता और लोकतन्त्र का विकास सम्भव माना गया है; उसमें बहुत बड़ी वास्तविकता निहित है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्वार्थपरता, लूट और शोषण की तुलना में निश्चय ही ये लाभ समाज को प्राप्त होंगे लेकिन समाज के नाम पर केवल सरकार के हाथ में अधिकाधिक शक्ति और अधिकार का केन्द्री-करण करने देने से व्यक्तिगत स्वार्थपरता का तो अवश्य निराकरण होगा

लेकिन उसके स्थान पर सरकार और दल की निरंकुश सत्ता अर्थात् जो लोग सरकार और दल के संचालक होंगे, उन कुछ व्यक्तियों की सत्ता सर्वोपरि हो जायगी और आम जनता तो पहले जैसी गुलामी और परावलंबन के जाल में ही फंसी रह जायगी। केवल मालिक बदल जायेंगे गुलामी तो कायम ही रहेगी, केवल बोतलों के लेबिलों में परिवर्तन हो जायगा शराब और शर्बत तो वही पुराना रह जायगा।

जिस अर्थव्यवस्था में मानव की प्रारंभिक आवश्यकताएं जैसे जल, भोजन, वस्त्र, निवास आदि भी केन्द्रित और नियंत्रित हों, उसमें लोकतन्त्र और मानव के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं, साथ ही वहाँ विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी नहीं कायम रह सकती और सरकार का विरोध भी, चाहे वह कितना ही शांत और सद्भावनापूर्ण हो, नहीं किया जा सकता, सत्ता स्वभावतः केन्द्रीयकरण और निरंकुशता की ओर झुकती है, अतः सत्ता चाहे वह साम्यवादी सरकार की ही क्यों न हो, स्वाधीनता और लोकतन्त्र की वास्तविकता को कभी पूरी तरह कायम नहीं रख सकती।

दरिद्रता और बेकारी का अन्त भी यन्त्रवादी और बड़े पैमाने के उद्योग धन्धों की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं हो सकता, चाहे सत्ता पूंजीवादी सरकार और समाज के हाथ में हो चाहे साम्यवादी सरकार के हाथ में; क्योंकि बड़े पैमाने का यांत्रिक उत्पादन मानवीय श्रम को बेकार बनायेगा ही और शोषण का मार्ग प्रशस्त करेगा। हो सकता है कि वह शोषण उस देश वालों का न होकर कम विकसित पड़ोसियों का या दूर देश वालों का हो। यांत्रिक औद्योगीकरण का अनियन्त्रित विकास तो आर्थिक साम्राज्यवाद को जन्म देगा ही और उससे दरिद्रता और बेकारी की वृद्धि ही होगी।

इस प्रकार साम्यवादी अर्थव्यवस्था वर्तमान पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की भित्ति—उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार और लाभ का वैयक्तिक बंटवारा-पर प्रहार करती है। जो तर्क वह उक्त व्यवस्था के विरोध

में देती है, वे सब अकाट्य हैं और न्याय तथा सचाई पर आधारित कोई भी समाज व्यवस्था अपने पड़ोसी को लूट कर धनी बनने के सिद्धान्त का समर्थन नहीं कर सकती और साम्यवादी अर्थव्यवस्था निश्चय ही पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से जिसे वह हटाना चाहती है, बहुत श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है सबसे बड़ी बात तो यह है कि साम्यवाद की प्रेरणा से रूस ने और अब चीन ने जो भारी परिवर्तन कर दिखाये हैं, उनसे सभी पूंजीवादी देशों की मध्य श्रेणी और गरीब श्रेणी के लोगों को बहुत आशायें बंधी हैं और नई दिशा मिली है और संसार के सभी देशों में साम्यवादी विचार धारा का जो विस्तार हुआ वह स्वाभाविक ही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि अब तक दुनिया के द्वारा साम्यवाद को जिस द्रुतगति से अपनाया जाना चाहिये था उस गति से नहीं अपनाया गया है। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि साम्यवाद के सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ ऐसी आधारभूत कमियाँ हैं जिनके कारण उस स्वर्ग की सृष्टि में सन्देह है जिसकी कल्पना साम्यवादी करते हैं। साम्यवादी अर्थव्यवस्था अगर पूंजीवादी व्यवस्था की कुछ बुराइयों और दोषों का शमन करती है और निराकरण करती है तो वह कुछ दोषों को रहने देती है और कुछ नये दोष भी पैदा कर देती है। अतः लोगों को वर्तमान की बुराइयों को सह लेना भविष्य के अज्ञात खतरों को मोल लेने से अच्छा लगता है, लेकिन यह स्थिति अधिक चलने वाली नहीं है क्योंकि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था किसी भी हालत में टिक नहीं सकती। इसे खतम होना ही होगा। अब यह विभिन्न राष्ट्रों की जनता और जन-नेताओं पर निर्भर है कि वे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी अर्थव्यवस्था को ग्रहण करेंगे जो कुछ दोषों को दूर करेगी लेकिन कुछ पुराने और कुछ नये दोषों को जन्म देगी या वे ऐसी व्यवस्था को अपनायेंगे जिसमें पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दोष तो निकल ही जाँय, साथ ही साम्यवादी अर्थव्यवस्था की कमियां भी उसमें न आने पायें। ऐसी व्यवस्था पर विचार करने से पहले साम्यवादी अर्थव्यवस्था के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोषों और पर भी नजर डाल लेनी चाहिये।

साम्यवाद का विवेचन

आधुनिक काल में साम्यावाद के सिद्धान्तों का सबसे अधिकारपूर्ण विवेचन और प्रतिपादन कार्ल मार्क्स ने किया है और उनका प्रभाव समाजवाद तथा साम्यवाद पर सबसे अधिक है। मार्क्स ने विश्व के ऐतिहासिक घटनाचक्र का नये दृष्टिकोण से अध्ययन किया और कुछ सिद्धान्त स्थिर किये, जिसे इतिहास की भौतिक व्याख्या कहा जाता है। ये सिद्धान्त तीन हैं (१) द्वन्द न्याय, (२) सामाजिक परिवर्तन का भौतिक आधार, (३) वर्ग संघर्ष। यहाँ स्थानाभाव से इन तीन सिद्धान्तो का अधूरा विवेचन भी सम्भव नहीं है, केवल स्थूल संकेत मात्र ही किया जा सकता है। पूरी जानकारी के लिए मार्क्स के प्रसिद्ध महाग्रन्थ 'पूंजी' का अध्ययन अनिवार्यतः आवश्यक है।

द्वन्द न्याय–मार्क्स का विचार है कि इतिहास की प्रत्येक घटना अपने विरोधी तत्व को जन्म देती है। कालांतर में उस विरोधी तत्व का लोप हो जाता है और उसका स्थान नया तत्व ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिये पूँजीवाद (वाद–Thesis) के विकास का फल मजदूर आन्दोलन (प्रतिवाद–Antithesis) है, जो उसका विरोधी तत्व है। यह धीरे धीरे सबल हो जाता है और पूँजीवाद का नाश करके साम्यवाद (युक्तिवाद–Synthesis) की स्थापना करता है और स्वयं लुप्त हो जाता है क्योंकि फिर सभी एक वर्गहीन समाज के व्यक्ति बन जाते हैं। इस तरह ऐतिहासिक घटनायें अनिवार्य रूप से आगे बढ़ती रहती हैं और हमेशा संघर्ष करती रही है और जो अवस्था कायम रहती है उसी से विरोधी शक्ति का जन्म होता है और वह वर्तमान अवस्था का अन्त कर देती है

प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत–सतत संघर्ष के इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो विचार प्रतिपादित किये गये हैं उनके अनुसार पहली बात तो यह है कि मानव जीवन इतना जटिल और विविधतापूर्ण है कि उसकी सारी घटनायें हिसाब के अंकों की भांति स्थिर नियमों के अनुसार ही सदा

आर्थिक घटना ही सब कुछ नहीं—इसमें शक नहीं कि मानव जीवन का एक बहुत बड़ा लक्ष्य जीविका का साधन ढूँढना है और मानव इतिहास की बहुत बड़ी घटनायें इसी अर्थशास्त्र पर अवलम्बित हैं, लेकिन इसके साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनका सामाजिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। ज्ञान, सदाचार, कला, धर्म ये सब मानव जीवन को काफी प्रभावित करते हैं, इन सबको छोड़ कर केवल आर्थिक घटनाओं को इतना अधिक महत्व देने से मानव जीवन एकांगी हो रहा है और विश्व में जो घोर रक्तपात, प्रतिहिंसा, असंतोष और क्षोभ व्याप्त है, वह इस प्रकार की एकांगी और भौतिक दृष्टि का परिणाम माना जा सकता है।

भाग्यवादिता का दोष—दूसरा बड़ा दोष इस सिद्धान्त का यह है कि अगर मानव समाज के सारे परिवर्तनों का एक मात्र आधार केवल उत्पादन के भौतिक साधन ही हैं और मनुष्य स्वयं अपने विचार और प्रेरणा से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, तो मानव जड़ और भाग्यवादी हो जायगा और वह एक दम पुरुषार्थहीन बन जायगा। ऐसी स्थिति में उन्नति की प्रेरणा और उसके लिए त्याग और बलिदान की भावना भी व्यर्थ और अनावश्यक हो जायगी। इस तरह की जड़ता का सिद्धान्त, जिसमें परिस्थितियाँ ही सब कुछ हैं मानव कुछ नहीं, एकदम अधूरा और गलत दिशा देने वाला कहा जायगा।

इस प्रकार यदि हम मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिक व्याख्या और उसके अन्तर्गत द्वन्द्व न्याय और सामाजिक परिवर्तनों का एक मात्र कारण आर्थिक साधन की स्वीकृति, इन दोनों सिद्धान्तों की एकांगिता को समझ लेते हैं और मानव के पुरुषार्थ को स्वीकार कर उसकी स्वतन्त्रता सत्ता और समझदारी से इन्कार नहीं करते तो मार्क्स के उक्त दोनों प्रतिपादनों में व्याप्त वर्ग संघर्ष और हिंसा का सिद्धान्त स्वयं ही कट जाता है। यदि यह प्रमाणित कर दिया जाय कि द्वन्द्व न्याय

का सिद्धान्त मानवीय कार्यों के लिये अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है तो समाज में उत्तम आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था कायम करने के लिये वर्गयुद्ध की अनिवार्य आवश्यकता भी नहीं ठहर सकती। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वर्ग युद्ध और हिंसा से समाज में भ्रातृभाव की स्थापना होगी, यह मानना अपनी बुद्धि को धोखा देना ही होगा। वर्ग युद्ध के बाद तुरन्त ही मजदूर वर्ग की स्वार्थ बुद्धि और प्रतिहिंसा तथा रक्तपात की अग्नि एकदम निःस्वार्थता और प्रेम के शीतल जल में परिवर्तित हो जायगी इसका विश्वास साम्यवादी ही कर सकते हैं; निष्पक्ष विचारक के लिए तो यह असम्भव ही है। बड़े और लम्बे रक्तपात पूर्ण संघर्ष के बाद जिनके हाथ में सत्ता आयेगी वे स्वयं उत्पीड़क और शोषक बन जायेंगे और उनके खिलाफ उन्हीं के हथियार काम में लाये जायेंगे और इस प्रकार रक्तपात, पीड़ा, शोषण और संघर्ष के घात-प्रतिघात बराबर चलते जायेंगे और शान्ति, समृद्धि और, भ्रातृभाव केवल दिवास्वप्न ही रह जायगा। वह कभी वास्तविकता ग्रहण नहीं कर सकेगा।

साम्यवाद के सिद्धांत—इस तरह स्पष्ट है कि मार्क्स के द्वन्द न्याय और मानव प्रकृति को पूर्णतः भौतिकवादी मानने के सिद्धांत, जिनका परिणाम वर्गयुद्ध, रक्तपात, हिंसा, धोखाधड़ी और जबर्दस्ती है, मान्य नहीं हो सकते। यह सही है कि अब तक के इतिहास में पशुबल के द्वारा ही अधिकार छीनने और हिंसक क्रांति कर डालने के उदाहरण पाये जाते हैं, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना कि आगे भी केवल यही संभव है, मूर्खतापूर्ण होगा, बल्कि इस तरह की अधिकार प्राप्ति और क्रांतियों के अधूरेपन, दिग्विमूढ़ता और असफलताओं से हमें कम से कम इतना सबक तो सीखना ही चाहिये कि हिंसा और संघर्ष सदा विरोध और प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं और इससे शांति और समृद्धि को धक्का पहुँचता है। अहिंसा, प्रेम और सचाई के शान्तिपूर्ण आग्रह से विरोधियों के हृदय को जीता जा सकता है, विरोध को खतम किया जा सकता है, संघर्ष के चक्र को रोका जा सकता है और स्थाई रूप से

प्रगति की जा सकती है तथा मानव समाज में शान्ति और समृद्धि की स्थापना की जा सकती है। गये पचास वर्ष में गांधी जी ने सामूहिक और वैयक्तिक रूप से अहिंसा का जो महान प्रयोग किया वह अहिंसक क्रान्ति की संभावना और सफलता का तो सबसे बड़ा प्रमाण है ही, साथ ही वह साम्यवादियों के वर्ग संघर्ष और हिंसा की अनिवार्यता सिद्धान्त को भी सबसे बड़ी चुनौती है।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था की मूलभूत कमियाँ

अब साम्यवादी अर्थव्यवस्था की कुछ मूलभूत कमियों पर दृष्टिपात कर लेना लाभदायक होगा।

(१) मानव का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं—व्यक्ति जिस प्रकार समाज का अविभाज्य अङ्ग है उसी प्रकार वह अपने आप में एक पूरी और स्वतन्त्र इकाई भी है, लेकिन अगर पूँजीवाद एक ओर व्यक्ति की सामाजिक जिम्मेवारी को भुला देने की ओर अग्रसर होता है, तो दूसरी ओर साम्यवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अस्तित्व को ही भुला देना चाहता है, वह उसे पूरी तरह समाज का एक नगण्य पुर्जा मात्र बना देता है। केन्द्रित तथा यांत्रिक अर्थव्यवस्था जिसे साम्यवाद स्वीकार करता है कभी सच्चे लोकतन्त्र को जन्म नहीं दे सकती और ऐसी स्थिति में मानव के लिये राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य और महत्व नहीं होगा और उससे उसे कोई आत्म-संतोष और सुख प्राप्त नहीं होगा।

(२) अधिकार का दानवीय केन्द्रीकरण—साम्यवादी अर्थ व्यवस्था में जनता की सारी सम्पत्ति और जनता के सारे अधिकार राष्ट्र के हाथ में केन्द्रित कर दिये जाते हैं। समग्र सम्पत्ति और समग्र अधिकारों का यह केन्द्रीकरण राष्ट्र के अधिकारी वर्ग के हाथ में इतनी विशाल शक्ति को इतनी पूर्णता से केन्द्रित कर देता है और कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हाथ में इतनी अधिक शक्ति आ जाती है कि वह मदोन्मत और भ्रष्ट किये बिना रह ही नहीं सकती और वे उस शक्ति का प्रयोग पूरे जोर के साथ करते हैं। परिणाम यह होता है कि जिन लोगों का मत अधिकारी

वर्ग से जरा भी विभिन्न होता है, उनका जीवन ही कठिन हो जाता है; विचारों की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उन्हें कारागार, पीड़ा, निर्वासन, हत्या और फाँसी का शिकार होना पड़ता है और परिणामतः जो साम्यवाद सारी समाज को स्वतन्त्र करने, कुछ गिने चुने लोगों के अत्याचार से बाकी लोगों को मुक्त करने, सबको समृद्ध और सुखी बनाने का दम भरता है, वह वास्तव में आज तक के इतिहास के सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रबल अधिनायकत्व अथवा अल्पतन्त्रीय सत्ता को जन्म दे देता है, जो सारे समाज को अपने अंगूठे के नीचे दबा कर रखना चाहती है।

(२) पूँजीवाद का प्रतिवाद—पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था में जहाँ व्यक्ति के लिये अपनी मानने जैसी कोई चीज नहीं रह जाती, भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षण, काम सब सरकार की ओर से निश्चित होता है और यह सब प्रत्येक अवस्था में उसे मिलने का सरकारी आश्वासन है, परिवार और नैतिकता की मर्यादा भी उस पर कोई नहीं है, उसे भी अपना मानने या कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, तब कौनसी प्रेरणा उसे अधिक से अधिक परिश्रम करने और अपने श्रेष्ठतम प्रयत्न में संलग्न होने में अग्रसर करेगी ? वास्तव में मार्क्स की परिभाषा में साम्यवाद स्पष्ट ही पूँजीवाद का प्रतिवाद (Antithesis) है और इसलिये दोषपूर्ण है। वह युक्तिवाद (Synthesis) नहीं है, जैसा मार्क्स मानते हैं। इसके लिये कोई दूसरा ही मार्ग खोजना होगा।

भावनासे मानव वंचित रह जाता है और इसके अभाव में मानव के शरीर और उसकी बुद्धि का भी विकास नहीं हो सकता और वह सतुलित और स्वस्थ जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

(५) संचालक तन्त्र—साम्यवादी बड़े पैमाने की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं, अतः स्वाभाविक रूप से साम्यवादी समाज में राष्ट्र का समस्त आर्थिक जीवन कुछ गिने चुने उद्योगों और यंत्रों के बड़े सचालकों के हाथ में चला जाता है और वहाँ संचालक तन्त्र (टैक्नोक्रेसी) का एकछत्र राज्य स्थापित हो जाता है। यह भी निःसन्देह है कि इस तरह के उत्पादन और वितरण में उत्तरोत्तर बड़े सङ्गठन की आवश्यकता होगी, जिसमें व्यक्ति केवल एक नगण्य इकाई बन कर रह जाता है, जो एक नियत काम मात्र को—जो बड़े काम का एक बहुत जरा सा अंश होता है—कर पाता है, अतः उसे उस कार्य से कोई सृजनात्मक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि उसकी मनुष्यता का धीरे धीरे लोप हो जाता है, क्योंकि वह जड़ मशीन का पुर्जा बन कर रह जाता है और उसमें वास्तविक भ्रातृत्व तथा सहयोग भावना का भी विकास नहीं हो पाता।

साम्यवादी पद्धति से साम्यवादी आदर्श की पूर्ति असंभव

साम्यवाद, प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उत्पादन करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करे, इस महान् सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत करना चाहता है। इसका आशय यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति में समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निर्वाह करने की गंभीरता और ज्ञान उत्पन्न करना चाहता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सारे समाज को उतना ही अपने निकट माने, जितना वह अपने परिवार के सदस्यों को मानता है, जिनके लिये वह बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहता है। यह साम्यवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत बड़े पैमाने के बड़े सङ्गठनों में संभव नहीं हो सकता, अतः साम्यवादी अर्थव्यवस्था में उक्त आदर्श की प्राप्ति असम्भव है। यह तो दूसरे

प्रकार के छोटे सङ्गठनों में ही सम्भव है जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

यद्यपि साम्यवादी सुदूर आदर्श के रूप में राज्य के उत्तरोत्तर समाप्त हो जाने को स्वीकार करता है और इस प्रकार मानव तथा मानव समूह में आंतरिक संयम और अनुशासन के विकास का आदर करता है, लेकिन वह जिस तरीके से शासन सत्ता को हथियाता है, और जिस तरह से सर्वहारा के राजनैतिक अधिनायकत्व का समर्थन करता है, उससे स्पष्ट है कि साम्यवाद इस पद्धति का अवलंबन करके राज्य सत्ता का खातमा नहीं कर सकता, बल्कि वह उसे अधिकाधिक प्रबल, व्यापक और निरंकुश ही बनाने में सहायक होता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि साम्यवाद के सुदूर आदर्श से लोगों को मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु इसमें निश्चय ही संदेह है कि साम्यवाद हिंसा, रक्तपात और अधिनायकत्व के मार्ग से चल कर सत्ता-विहीन किन्तु स्वतंत्र तथा विकासशील मानव समाज की स्थापना कर सकता है, जिसमें राज्य-सत्ता क्षीण होते होते खतम हो जाय।

नया साम्यवादी साम्राज्यवाद

इसके विपरीत, साम्यवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति और सत्ता का सरकार के हाथ में केन्द्रीकरण जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रत्येक राष्ट्र में अंतःकलह को पैदा करने और बढ़ाने वाला होगा। पहले तो साम्यवादी दल द्वारा सत्ता प्राप्त हो जाने के बाद मतभेद रखने वालों के साथ भी यह हिंसात्मक संघर्ष और दमन का दौरदौरा चलेगा ही, जब तक सारा विरोध दूसरों का या अपने दल वालों का बिल्कुल खतम न हो जाय। दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था एक राष्ट्र की सीमा से ही संतुष्ट होनेवाली नहीं है। आत्मरक्षा की दृष्टि से या साम्यवादी अर्थव्यवस्था के विश्व व्यापी प्रसार के उद्देश्य से यह राष्ट्र की सीमा का अतिक्रमण करेगी, पड़ोस के दुर्बल राष्ट्रों को अपने साथ घसीटेगी और प्रबल राष्ट्रों से युद्ध करेगी या युद्ध में घसीटी जायगी। इस प्रकार जो अवस्था वर्ग युद्ध से पनपेगी और बलवान बनेगी वह अंतःकलह और अंतर्राष्ट्रीय युद्धों को भी

जन्म देगा और द्वितीय मार्क्सवाद भी सत्ता के केन्द्रीकरण से पूंजीवाद की तरह किन्तु एक नये, अधिक शक्तिशाली और अधिक भयानक साथ ही अधिक विनाशकारी साम्राज्यवाद को जन्म देगा। इसमें तो शक ही नहीं कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था में पुलिस और सैनिक शक्ति की बहुलता होगी, जिससे साम्यवादियों द्वारा राष्ट्र का निर्माण प्रेम, भ्रातृभाव, और सहयोग के आधार पर करने की बात केवल क्रूर उपहास बनकर रह जायगी और उसके स्थान पर सैनिक राष्ट्र की स्थापना होगी जो भय, आतंक और आशंका पर आधारित होगा। इसका परिणाम यह होगा कि राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिक भाग जेल, पुलिस, सेना तथा सैनिक तैयारियों में जायगा और जनता पहले की तरह ही पीड़ित, गरीब और अभावयुक्त बनी रहेगी।

सुदूर आदर्श सर्वमान्य

इसमें संदेह नहीं कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति पर तथा मुनाफे पर वैयक्तिक अधिकार और उपभोग के कारण समाज में जो भयंकर विषमता उत्पन्न हुई और बढ़ी है और जिस प्रकार आंतरिक कलह तथा अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति से मानव जाति को त्रास पहुँचा है उसकी प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवादी विचार-धारा के प्रति मानव समाज में अत्यन्त प्रबल आकर्षण है; और, वैयक्तिक अधिकारों पर बल देकर शोषण को वैध करार देने के स्थान पर समाज के हित को प्रधानता देकर उस शोषण को खतम कर देने का जो प्रयत्न साम्यवाद करता है और जिस शोषणहीन और वर्गहीन समाज की कल्पना मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था करती है, उसकी श्रेष्ठता के बारे में दो मत नहीं हो सकते। साम्यवाद के अंतिम ध्येय जिसमें राज्य धीरे-धीरे सूख जायगा अर्थात् सत्ता का अन्तिम स्थिति में लोप हो जायगा और फलतः व्यक्ति पर अपना ही अनुशासन रहेगा; वह आत्म संयम, आत्मविकास और आत्मसिद्धि की ऊंची से ऊंची स्थिति होगी—वह भी सबको मान्य होगी क्योंकि तभी मानव पूर्णतः स्वतंत्र होगा, जीवन मुक्त होगा।

किन्तु साम्यवाद की आधारभूत मान्यताएं भ्रमपूर्ण

लेकिन इस आदर्श की स्थापना जिन मूलभूत कल्पनाओं के आधार पर साम्यवाद करना चाहता है, वही अधिकांश में गलत हैं। द्वन्दात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मानव संबंधों में गणित की सूक्ष्मता और अनिवार्यता के साथ प्रमाणित नहीं होता। वह सारे मानव संबंधों का विवेचन नहीं कर पाता। पूँजीवाद और मजदूर आन्दोलन में जो वाद और प्रतिवाद की कल्पना मार्क्स ने की है, वह मौलिक रूप से ही गलत है। मानव समाज को पूंजीवादी और सर्वहारा ऐसे दो वर्गों के कड़े रूप में नहीं बांटा जा सकता; एक ओर के लोग दूसरी ओर न्यूनाधिक मात्रा में आते-जाते रहते हैं। उच्च शिक्षित अधिकारी चाहे वेतन भोगी ही हों वे पूंजीवाद के अधिक निकट होते हैं और समय पाकर पूंजीवादी बन जाते हैं, और छोटी पूंजीवाले लोग छोटे कारखानों के मालिक व्यापारी के रूप में पूंजीपति होकर भी मजदूरों के अधिक निकट आ जाते हैं और प्रायः उस वर्ग में शामिल हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि बड़े जागीरदार पूंजीवादी विचार औरप्रकृति के होते हैं तो बहुत छोटे जागीरदारों की अधिक निकटता किसान से रहती है और मानव की हैसियत से मानव की सारी कमियां और विशेषतायें तथा कथित पूंजीवादी और सर्वहारा-श्रेणियों के मानवों में होतीं हैं और दोनों बलिदान और त्याग की ऊंची से ऊंची प्रेरणा प्राप्त कर आगे बढ़ सकते हैं तो वे तुच्छ स्वार्थ और संकुचितता के फलस्वरूप नीचे से नीचे भी गिर सकते हैं।

यद्यपि सामान्यतः ईसा का यही कथन सही है कि सुई के छेद में से ऊंट का निकलना संभव है किन्तु धनिक का ईश्वर के राज्य में प्रवेश असंभव है, लेकिन इन दोनों के बीच में कोई प्राकृतिक और अभेद्य दीवार नहीं है और इन दोनों वर्गों को संघर्ष के बिना या एक वर्ग को धोखा, षड्यंत्र, हिंसा और हत्या के बिना खतम ही नहीं किया जा सकता—यह मान्यता गलत है। वर्गहीन समाज की स्थापना वर्ग-संघर्ष और वर्ग-नाश के बिना वर्ग-परिवर्तन द्वारा भी संभव है, बल्कि वास्तविक वर्ग-हीनता वर्ग-परिवर्तन

से ही हो सकती है, इस तथ्य को साम्यवादी विचारधारा स्वीकार नहीं करती, और अतः प्रत्येक मानव में मानवता, भ्रातृभाव, सहयोग, त्याग-भावना आदि गुणों की संभावना से इन्कार करती है और मानव को पशु से अधिक कुछ नहीं मानना चाहती। यह मानवता के प्रति अविश्वास,जो साम्यवाद का आधारभूत सिद्धान्त है, साम्यवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है। इसी प्रकार मानव के समग्र सामाजिक संबंधों को केवल आर्थिक साधनों से ही निर्मित और प्रभावित मानना भी एकांगी दृष्टि है, जो साम्यवादी अर्थव्यवस्था में वही लिप्सा, असंतोष और भौतिक सुखों और साधनों के पीछे अंधानुसरण की प्रवृत्ति जाग्रत और प्रबल रखना चाहती है, जिसके कारण वह पूंजीपति और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था दोनों की इतनी निन्दा करती है और जिन्हें वह बलपूर्वक उखाड़ फेंकने को इतनी आतुर है।

इसके साथ ही साम्यवादी अर्थव्यवस्था पूंजीवाद के दो प्रमुख दुर्गुणों —यांत्रिक और बड़े पैमाने की उद्योग व्यवस्था और सत्ता तथा सम्पत्ति के केन्द्रीकरण—को स्वीकार कर लेती है, और इसका परिणाम होता है व्यापक परावलंबन, मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण, बुद्धि और नैतिकता का कुंठित होना और अधिकारी वर्ग की एकतन्त्रीय तथा प्रबल सत्ता की स्थापना, जो साम्यवाद के घोषित आदर्श की प्राप्ति से उतनी ही दूर रहेगी जितना पूंजीवाद उस आदर्श से दूर रहेगा; बल्कि समग्र राष्ट्र की समग्र राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक सत्ता तथा समग्र सम्पत्ति और आर्थिक साधनों और व्यवहारों के केन्द्रीकरण से साम्यवादी अधिनायकत्व ऐसा शक्तिशाली और प्रबल हो जायगा जिसमें किसी भी प्रकार का मत-स्वातन्त्र्य असम्भव हो जायगा और मानव की आजादी की आकांक्षा क्रमशः असंभव और अकल्पनीय होकर रह जायगी और मार्क्स जिस राज्य को शुष्क होते होते शून्य होने की कल्पना करते हैं, वह उनकी कल्पना के विपरीत, असीम होकर मानव पर छा जायगा और मानव का व्यक्तित्व वास्तव में रसहीन होकर शून्य बन जायगा और इस

प्रकार साम्यवाद के मार्ग से चलकर हम जहाँ पहुँचेंगे वह मार्क्स के स्वप्न
में बिल्कुल ही विपरीत होगा।

नई दिशा में खोज आवश्यक—अतः हमें ऐसी अर्थव्यवस्था
खोजने की आवश्यकता है जो समाज के हित और कल्याण को व्यक्तिगत
स्वार्थपरता से श्रेष्ठ मानते हुए भी मानव के व्यक्तित्व, उसके भ्रातृभाव
और सहयोग और उसकी उन्नति की प्रेरणा को कायम रक्खे, जो पूंजीवादी
अर्थव्यवस्था की विषमता, पीड़ा और शोषण का अंत तो करे, लेकिन
उसे परावलंबन और केन्द्रीकरण के द्वारा दूसरे नाम से, अधिक आकर्षक
नाम से, वापिस थोपने का प्रयत्न न करे; जो साम्यवाद के अंतिम आदर्श
को सुदूर भविष्य कल्पना ही न रक्खे, बल्कि उसे तुरन्त ही, चाहे छोटे से
छोटे क्षेत्र में ही सही, प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करे और जिस भ्रातृभाव,
सामाजिकता और सहयोग की प्रशंसा साम्यवाद करता है उसे नित्य के
व्यवहार में, आज और अभी, प्रत्यक्ष कर दिखावे, उसे वर्ग-संघर्ष के बाद
की काल्पनिक स्थिति के लिये दूर उठाकर न रक्खे। वह अर्थव्यवस्था
मानव-रक्त के सागर में तैर कर जीवन के द्वीप तक पहुँचने का उल्टा
प्रयत्न नहीं करेगी, वह केवल भौतिक साधनों और यन्त्रों से चिपकी
रहकर मानव की समग्र उन्नति की असंभव कल्पना नहीं करेगी।

आय और धन को आर्थिक और सामाजिक जीवन का मापदन्ड मानने के बजाय परिश्रम को इसका मापक माना जाय और उसी से सारी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत आंकी जाय, और इस प्रकार व्यक्तिगत और समाजगत दोनों प्रकार के उद्योग धन्धों को कायम रक्खा जाय। आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि वह विषमता को होने का कम से कम अवसर दे और जितनी हो ही जाती हो उसे कम करने की पद्धति को सदा क्रियाशील और जागरूक रक्खे तो ऐसी अर्थ व्यवस्था का संचालन हो सकता है जिसमें पूँजीवादी प्रथा की आर्थिक विषमता सम्बन्धी बुराइयों को रोका जा सके और साम्यवादी प्रथा की भांति सारे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किये बिना भी वैयक्तिक और परिवारगत उद्योग धन्धों का निश्चित क्षेत्र कायम रक्खा जा सके और सामाजिक क्षेत्र में राष्ट्रीय-कृत उद्योगों द्वारा वर्तमान विज्ञान का लाभ भी उठाया जा सके।

बड़े यांत्रिक उद्योग और ग्रामोद्योग—आर्थिक व्यवस्था में से बड़े पैमाने के यांत्रिक उद्योग धन्धों का वैयक्तिक आधार खतम कर देने से तथा एक ओर वैयक्तिक आधार को केवल ग्रामोद्योग और दूसरी ओर सामूहिक आधार को केवल राष्ट्रीय बड़े उद्योगों तक सीमित और निश्चित कर देने से राष्ट्र के अंतर्गत शोषण का मार्ग स्वतः बन्द हो जायगा। राष्ट्र के बाहर का शोषण अर्थात् साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को रोकने के लिए एक ओर जहाँ बड़े पैमाने के यांत्रिक उद्योग धन्धों के, जिनमें युद्ध बनाने वाले और युद्ध सेवा में परिवर्त्तित हो सकने वाले उद्योग मिल हैं, राष्ट्रीयकरण हो जाने से उनसे होने वाला व्यक्तिगत, [illegible] या कारपोरेशन का लाभ खत्म हो जायगा और स्वयं [illegible]ति भी खतम हो जायगा। इससे अंतर्राष्ट्रीय युद्ध का बहुत बड़ा अपने आप ही अंतिम साँस ले लेगा। दूसरी ओर इस प्रकार की [illegible]था वाले समाज की राजनैतिक व्यवस्था भी कुछ विशेष प्रकार [illegible]। सारे साम्राज्यवादी राज्यों के राजनैतिक संगठन अधिकाधिक [illegible] पैमाने के, अधिकाधिक केन्द्रित रूप से संगठित और अधिका-[illegible]कुछ गिने चुने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपरिमित सत्ताधारी

जिसमें पूँजीवादी और साम्यवादी व्यवस्था के गुणों का समन्वय हो जाय और उनके दोषों से पूरा बचाव भी हो सके। ऐसी व्यवस्था को निश्चय ही न केवल पूँजीवादी कहा जा सकेगा और न केवल साम्यवादी। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक सम्पत्ति और उत्तराधिकार न बिल्कुल लोप ही हो जाना चाहिये और न वह पूँजीवादी व्यवस्था के अनुसार बिल्कुल निरंकुश और अस्पर्शनीय ही रह सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि परिवार, पारिवारिक सम्पत्ति और उसके उत्तराधिकार को कानूनी और उचित माना जा सकता है लेकिन उसकी कई सीमाएँ और मर्यादाएँ हमें रखनी होंगी।

पहली बात तो यह कि अधिक सम्पत्ति एकत्रित कर सकने जैसी सामाजिक और अर्थव्यवस्था ही न रहे, अर्थात् सार्वजनिक हित और सामूहिक उपयोग के सारे उद्योग राष्ट्रीय रहें, उनमें योग्य व्यक्तियों को संचालन का अधिकार अवश्य दिया जाय और उन्हें योग्यता के अनुसार वेतन भी दिया जाय, लेकिन व्यक्तिगत और पारिवारिक उपयोग के धंधे जिनसे दैनिक उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन होता है विकेन्द्रित और विस्तृत रूप में ग्रामोद्योग के रूप में परिचालित हों जिससे अधिक से अधिक लोगों को काम मिल सके, सम्पत्ति का अधिक से अधिक समतापूर्ण वितरण हो सके और दैनिक आवश्यकता और सुविधा की वस्तुओं के सम्बन्ध में आम लोग अधिक से अधिक स्वावलम्बी हो सकें। दूसरी बात यह कि आयकर तथा उत्तराधिकार कर के द्वारा आर्थिक विषमता को बराबर दृढ़तापूर्वक कम किया जा सके, जिससे विषमता को स्थाई हो जाने का मौका न मिल जाय। तीसरी बात यह कि न्यूनतम पारिश्रमिक और अधिकतम पारिश्रमिक की मर्यादा निश्चित कर दी जाय, जो आरंभ से ही दस गुणा से अधिक न हो और फिर अधिकतम को स्थिर रखने तथा न्यूनतम को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय। चौथी बात यह कि जीवन का सारा क्रम, वातावरण, शिक्षण, आदर्श ऐसा हो, जिसमें धन की अधिकता प्रशंसनीय और आदरणीय न समझी जाय, बल्कि सचाई, ईमानदारी, त्याग, सहकार और स्वावलम्बन को सर्वाधिक महत्व दिया

के केन्द्रीकरण द्वारा अपनी शक्ति और सत्ता बढ़ाने के आकर्षण और लोभ को छोड़कर कम से कम सत्ता और अधिक से अधिक व्यक्ति-स्वातंत्र्य को अपना आदर्श और अपनी सफलता माने।

आदर्श और साधन—संक्षेप में इसे यों कह सकते हैं कि व्यक्ति और समाज भौतिक साधनों को अपना लक्ष्य न मानकर मानव कल्याण को अपना लक्ष्य माने और संग्रह को सुख का साधन न मान कर त्याग और सेवा को उसका साधन समझें तो हमें सही अर्थव्यवस्था का आधार मिल सकता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याणकारी हो सकता है और सबको सुखी बना सकता है। यह विचार एक दृष्टि से अत्यन्त क्रांतिकारी है और दूसरी से सामान्य। सामान्य इस दृष्टि से कि प्रत्येक पश्चिमी विचारधारा सैद्धान्तिक रूप से मानव की उन्नति और समाज की प्रगति को लक्ष्य मानती है, लेकिन वास्तव में व्यवहार में उसने मानव की उन्नति और समाज की प्रगति का मापदंड भौतिक सुख और सुविधा की वृद्धि में ही मान लिया है। पूँजीवादी व्यवस्था करोड़पति को लखपति से अधिक सम्मान योग्य, अधिक सुखी और अधिक सफल मानती है और समाजवादी व्यवस्था—यदि एक वर्ष में, एक लाख टन अन्न उत्पन्न किया और दूसरे वर्ष दो लाख टन अधिक उत्पन्न कर लिया तो हम अधिक सुखी हो गये, समाजवादी व्यवस्था अधिक कल्याणकारी हो गई, यह मान लेती है। यह दृष्टि एकांगी है और हानिकर है, क्योंकि केवल भौतिक साधनों की बहुलता में सुख और सफलता का अर्थ केवल भौतिक साधन बढ़ाने के पीछे अंधी दौड़ है, जो मानव में और मानव समाजों में असंतोष, कलह, प्रतिद्वन्द्विता और अधिकारवृत्ति को ही बढ़ाती है। यही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के 'आर्थिक मानव' जैसी भ्रामक और झूठी कल्पना को जन्म देती है और यही समाजवादी व्यवस्था में भी अंधाधुंध अधिक उत्पादन की भावना को बलवान बनाती है।

गुणों का समन्वय और दोषों का निराकरण कैसे ?—अतः हमें ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की खोज करनी पड़ेगी

जिसमें पूँजीवादी और साम्यवादी व्यवस्था के गुणों का समन्वय हो जाय और उनके दोषों से पूरा बचाव भी हो सके। ऐसी व्यवस्था को निश्चय ही न केवल पूँजीवादी कहा जा सकेगा और न केवल साम्यवादी। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक सम्पत्ति और उत्तराधिकार न बिल्कुल लोप ही हो जाना चाहिये और न वह पूँजीवादी व्यवस्था के अनुसार बिल्कुल निरंकुश और अस्पर्शनीय ही रह सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि परिवार, पारिवारिक सम्पत्ति और उसके उत्तराधिकार को कानूनी और उचित माना जा सकता है लेकिन उसकी कई सीमाएँ और मर्यादाएँ हमें रखनी होंगी।

पहली बात तो यह कि अधिक सम्पत्ति एकत्रित कर सकने जैसी सामाजिक और अर्थव्यवस्था ही न रहे, अर्थात् सार्वजनिक हित और सामूहिक उपयोग के सारे उद्योग राष्ट्रीय रहें, उनमें योग्य व्यक्तियों को संचालन का अधिकार अवश्य दिया जाय और उन्हें योग्यता के अनुसार वेतन भी दिया जाय, लेकिन व्यक्तिगत और पारिवारिक उपयोग के धंधे जिनसे दैनिक उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन होता है विकेन्द्रित और विस्तृत रूप में ग्रामोद्योग के रूप में परिचालित हों जिससे अधिक से अधिक लोगों को काम मिल सके, सम्पत्ति का अधिक से अधिक समता-पूर्ण वितरण हो सके और दैनिक आवश्यकता और सुविधा की वस्तुओं के सम्बन्ध में ग्राम लोग अधिक से अधिक स्वावलम्बी हो सकें। दूसरी बात यह कि आयकर तथा उत्तराधिकार कर के द्वारा आर्थिक विषमता को बराबर दृढ़तापूर्वक कम किया जा सके, जिससे विषमता को स्थाई हो जाने का मौका न मिल जाय। तीसरी बात यह कि न्यूनतम पारिश्रमिक और अधिकतम पारिश्रमिक की मर्यादा निश्चित कर दी जाय, जो आरंभ से ही दस गुणा से अधिक न हो और फिर अधिकतम को स्थिर रखने तथा न्यूनतम को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय। चौथी बात यह कि जीवन का सारा क्रम, वातावरण, शिक्षण, आदर्श ऐसा हो, जिसमें धन की अधिकता प्रशंसनीय और आदरणीय न समझी जाय, बल्कि सचाई, ईमानदारी, त्याग, सदाचार और स्वावलम्बन को सर्वाधिक महत्व दिया

लाप और धन को आर्थिक और सामाजिक जीवन का मापदण्ड मानने के बजाय परिश्रम को इसका मापक माना जाय और उसी से सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत आंकी जाय, और इस प्रकार व्यक्तिगत और समाजगत दोनों प्रकार के उद्योग धन्धों को कायम रक्खा जाय। आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि वह विषमता को होने का कम से कम अवसर दे और जितनी हो ही जाती हो उसे कम करने की पद्धति को सदा क्रियाशील और जागरूक रक्खे तो ऐसी अर्थ व्यवस्था का संचालन हो सकता है जिसमें पूँजीवादी प्रथा की आर्थिक विषमता सम्बन्धी बुराइयां को रोका जा सके और साम्यवादी प्रथा की भांति सारे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किये बिना भी वैयक्तिक और परिवारगत उद्योग धन्धों का निश्चित क्षेत्र कायम रक्खा जा सके और सामाजिक क्षेत्र में राष्ट्रीय बड़े उद्योगों द्वारा वर्तमान विज्ञान का लाभ भी उठाया जा सके।

बड़े यांत्रिक उद्योग और ग्रामोद्योग—आर्थिक व्यवस्था में

व्यक्तियों के द्वारा संचालित होते हैं; राज्यों के समग्र प्रचार और प्रकाशन के साधनों पर उनका एकाधिकार होता है; राज्य के केवल राजनैतिक ही नहीं बल्कि समग्र आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र पर उनकी सत्ता अबाध, केन्द्रीकृत और अपरिमित होती है और युद्ध काल में तो वह राजनैतिक सत्ता-दानवीय अधिनायक का रूप धारण कर लेती है और सारे प्राप्य और संभव मानवीय और प्राकृतिक साधनों को निर्मम-तापूर्वक युद्ध और सर्वनाश की ज्वाला में झोंक देती है। सत्ता के इस केन्द्रित दानवीय रूप से न पूंजीवादी समाज व्यवस्था मानव को बचा सकी है और न साम्यवादी व्यवस्था बचा पाई है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस सम्बन्ध में दोनों के खोखलेपन और झूठ को पूरी तरह स्पष्ट करके दुनिया के सामने रख दिया है।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण—स्पष्ट है कि नये समाज-संगठन और अर्थ व्यवस्था में इसे आमूल बदल देना होगा। सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकना होगा। सत्ता संचालक को भ्रष्ट करती है और अधिकतम और निरंकुश सत्ता उसे अधिकतम भ्रष्ट करती है, अतः अगर हमें ऐसी व्यवस्था चाहिये जो इस प्रकार के अधिनायकत्व और उसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न गुलामी और शोषण को रोक सके तो हमें सत्ता के इस केन्द्रीकरण की जड़ पर ही आघात करना होगा।

राजनैतिक विकेन्द्रीकरण—सत्ता का यह विकेन्द्रीकरण राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में करना होगा। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह है कि राजनैतिक जीवन को मूलभूत आधार एक गाँव या कस्बा माना जाय, जिसके निवासी एक दूसरे को आपस में जानते-पहचानते हों। गाँव के प्रत्येक बालिग स्त्री पुरुष द्वारा सीधे रूप से चुनी हुई पंचायत गाँव के समग्र राजनैतिक जीवन की व्यवस्था और संगठन करे और गाँव की सुरक्षा और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार हो। वह आवश्यक कर लगा सके और आवश्यक व्यय कर सके। अनेक गाँवों के सामूहिक और सामान्य मामलों की व्यवस्था का भार जिला पंचायत पर हो, जिसके निश्चित अधिकार और कर्तव्य हों। जिला पंचायत

पर आधारित पेशा भी खतम हो जायगा, वे सब किसी न किसी उत्पादक उद्योग में लग सकेंगे और अपने खाली समय में अथवा अपने नागरिक या मैत्री-कर्त्तव्य, के नाते ही वादी-प्रतिवादी की मदद और सुविधा के लिये काम कर सकेंगे। तब उनकी वृत्ति मामलों को सुलझाने और समझौता कराने की रहेगी, न कि उन्हें लड़ाने और मामलों को उलझाने और लम्बा करने की, जैसी आज कल है।

सत्ता के इस विकेन्द्रीकरण में केवल पंचायतों की स्थापना ही काफी नहीं होगी, क्योंकि सरकारों का निर्माण आज की पार्लियामेंटरी पद्धति से करना भी सत्ता के केन्द्रीकरण में सहायक है। इससे राजनैतिक दलबंदी सत्ता की होड़ में पड़ जाती है। अतः बहुमत के आधार पर कार्यवाहक समिति बनाने के बजाय उसे सब की सम्मति के आधार पर बनाने का प्रयत्न किया जाय और इसके लिये सरकार के किसी प्रश्न पर हार जाने पर त्यागपत्र देने के बजाय उस प्रश्न को ही बहुमत के निर्देशानुसार निर्णय कर लिया जाय और किसी मंत्री पर बहुमत से अविश्वास प्रकट किये जाने पर सारी सरकार के त्यागपत्र देने के बजाय वह मन्त्री स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे दे और कार्यवाहक समिति का कार्यकाल पंचायत के कार्यकाल तक रहे तो इससे राजनैतिक दलों का विकास सत्ता के केन्द्रीकरण और उसके लिये होड़ के रूप में नहीं होगा, बल्कि आवश्यक कर्त्तव्य-निर्वाह के लिये होगा। इस दृष्टि से अमेरिकन और ब्रिटिश लोकतंत्रीय पद्धति के बजाय स्विस पद्धति को और आदर्श रूप में देखना अधिक उचित होगा।

राजनैतिक सत्ता के आंतरिक विकेन्द्रीकरण और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उक्त राष्ट्र साम्राज्यवाद, उग्र राष्ट्रीयता तथा व्यापारिक अधिकारवाद से मुक्त हो जायगा और अन्य राष्ट्रों की भी लोभपूर्ण दृष्टि उस पर नहीं पड़ेगी। वह राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय गौरव के स्वार्थपूर्ण और संदेहजनक सिद्धांत के बजाय न्याय और स्वावलम्बन का समर्थक बन जायगा और केवल अपनी अतिरिक्त उत्पादन की वस्तुओं का विनिमय बाहर की अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं से करेगा

और इसलिये उसका विरोधों से अवश्य धीरे-धीरे कूटनीतिक और आर्थि-क कम और सांस्कृतिक अधिक होता जायगा। इसका परिणाम अन्य देशों पर भी पड़ेगा और वह राष्ट्र नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का जनक होगा और राजनैतिक स्वार्थ के आधार पर संगठित वर्तमान राष्ट्र संगठनों के बजाय सांस्कृतिक आधार पर संगठित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रमुखता मिलेगी। केवल अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एक ऐसी संस्था होगी जिसमें राष्ट्रों के बीच के आपस के मतभेदों के तय न होने पर अन्तिम निर्णय उस न्यायालय से कराया जा सकेगा और चूंकि मतभेदों में राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा और गौरव के झूठे और हानिकारक सिद्धान्त बाधक न होंगे, अतः न्याय और समता के आधार पर न्यायालय के निर्णयों को कार्य रूप में परिणत करने में प्रायः कठिनाई नहीं होगा।

इस प्रकार यह निश्चित प्रतीत होता है कि राष्ट्र में राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप स्वतः ही राष्ट्रों की आपस की प्रतिस्पर्द्धा, फूट और कूटनीति के खातमे की शुरुआत हो जायगी और एक राष्ट्र में भी किये गये इस तरह के साहसपूर्ण प्रयोग का गम्भीर प्रभाव सारी दुनिया के राष्ट्रों पर पड़ेगा। इस प्रकार पूंजीवादी और साम्यवादी साम्राज्यवादों के कारण विश्व में जो आज संदेह, आशंका और विनाश की सरपट दौड़ हो रही है वह खतम हो जायगी, क्योंकि आज मानव में बाहर की ओर बढ़ने की जो राक्षसी पद्धति बल पकड़ रही है उसका स्थान अन्दर की ओर बढ़ने की ईश्वरीय पद्धति ले लेगी।

आर्थिक विकेन्द्रीकरण—लेकिन जैसा पहले कहा जा चुका है, सत्ता के विकेन्द्रीकरण का यह क्रम केवल राजनैतिक ही नहीं होगा, यह जीवन की सारी पद्धति और समग्र आदर्श तक व्यापक होगा। आर्थिक विकेन्द्रीकरण इसका मूल आधार होगा। इसका आशय यह है कि उत्पादन के सारे प्रकार और व्यापार—खासकर मानव की मूलभूत आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र और निवास से सम्बन्धित व्यवहार यथासम्भव ...त, ग्रामगत या क्षेत्रगत स्वावलम्बन पर आधारित होंगे। ... मूलभूत औद्योगिक संगठन प्रायः या तो पारिवारिक होंगे या

ग्राम अथवा गाँवों तक सीमित सहयोगी पद्धति पर होंगे। मूलभूत उद्योगों के अलावा अन्य उद्योग जो बड़े पैमाने पर और यांत्रिक पद्धति पर केन्द्रीकरण के आधार पर ही चल सकते हैं या वर्तमान राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण जिनका जारी रखना, चाहे आवश्यक बुराई के रूप में सही, जरूरी समझा जाय, उनका राष्ट्रीयकरण ही होना चाहिये। लेकिन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के क्षेत्र को भी सीमित रखना आवश्यक है, क्योंकि राष्ट्रीयकरण का अर्थ सरकार के हाथ में सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण है, जो अंत में हानिकारक ही साबित होनेवाला है। अतः राष्ट्रीयकरण के लिये स्वीकृत बड़े उद्योगों को भी जहाँ तक सम्भव हो सीधे सरकार के हाथ में न देकर राजनीति से अलग सरकारी कारपोरेशनों के हाथ में दिया जाय अथवा इससे भी अच्छा यह हो कि कार्यकर्ताओं और उपभोक्ताओं की सम्मिलित सहयोगी संस्थाओं को इनका संचालन सौंपा जाय। इन औद्योगिक संस्थाओं द्वारा जनता की सुविधा की वस्तुएँ उत्पादित की जाय और गाँव पञ्चायतों अथवा गाँव की सहयोग समितियां द्वारा वितरित की जाय; वितरक सहयोगी समितियां, व्यापारियों के ग्राम या जिला व्यापारी संगठन हो सकती हैं।

व्यापार का ध्येय और व्यापार की पद्धति व्यक्तिगत मुनाफे और सम्पत्ति के आधार पर नहीं होगी बल्कि, मन्त्री, पञ्च, जज, अध्यापक, सरकारी कर्मचारी आदि की भाँति जनता की सेवा और सुविधा के आधार पर होगी। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक परिवार पारिवारिक हैसियत से किसी न किसी प्रकार के उत्पादन उद्योग से सम्बन्धित हो और कुछ समय के लिये वह कर्तव्य या देश सेवा के नाते किसी भी सार्वजनिक सेवा की प्रवृत्ति में शामिल हो जाय; और निश्चित समय के बाद या परिस्थितियाँ बदलने पर वह स्वयं ही अपने पुराने धन्धे में, बिना किसी दिक्कत और हिचकिचाहट के, शामिल हो जाय। जब सार्वजनिक सेवा के साथ भरण पोषण का स्वार्थ अनिवार्यतः जुड़ जाता है, तब एक ओर सेवा का मान पैसे से होने लगता है और दूसरी ओर सेवा गौण हो जाती है तथा पैसा प्रमुख बन जाता है, फलतः सेवा तथा सेवक दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं।

सामाजिक विषमता का अन्त—इस प्रकार के समाज संगठन में स्पष्ट ही वर्ण, जाति, रंग, नस्ल आदि किसी भी आधार पर एक मानव समूह को दूसरे से हल्का या कम अधिकार वाला नहीं माना जायगा और इस प्रकार के किसी भेद के आधार पर किसी को अपमानित या शोषित हो सकने की आशंका नहीं रहेगी। हरएक का शरीर श्रम से प्रत्यक्ष संबंध होगा और हर एक दूसरे की सहायता और सहानुभूति के लिये तत्पर रहेगा, अत. मानव दृष्टि से समान होंगे और प्रत्येक दूसरे को हल्का समझने के बजाय या तो अपने बराबर या बड़ा मानेगा और अगर कोई पीड़ित और दुखी होगा तो उससे नफरत करने के बजाय उसे अपनी सेवा और सहानुभूति का पात्र समझेगा। जहाँ समाज का संगठन स्वावलम्बन और विकेन्द्रीकरण के आधार पर होगा, जहाँ प्रत्येक परिवार का उत्पादक श्रम से सीधा सम्बन्ध होगा, जहाँ राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार के शोषण की पद्धति नहीं रहेगी, वहाँ सामाजिक विषमता स्वतः ही खतम हो जायगी, उसे पनपने और बढ़ने के लिये कोई क्षेत्र ही नहीं मिलेगा।

सत्य पर आधारित अहिंसक समाज—स्पष्ट है कि ऐसा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संगठन शोषणहीन होगा अर्थात् उसमें मानव-मानव का सम्बन्ध प्रेम पर, सहानुभूति पर और सहयोग पर आधारित होगा। परिणामतः वह समाज अहिंसा के पथ की ओर प्रगतिशील होगा, साथ ही उस समाज में मानव के व्यक्तित्व को, उसकी स्वतन्त्र सत्ता को किसी भी बहाने से या किसी भी नाम से भुलाया या कुचला नहीं जायगा, बल्कि व्यक्तित्व को विकसित होने का पूरा मौका ; सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक संगठन या वातावरण किसी प्रकार बाधक नहीं होगा, लेकिन इसके साथ साथ सामाजिकता वारिक इकाई, औद्योगिक संगठन और राजनैतिक व्यवस्था सभी , बलिदान, सहयोग और सहानुभूति के आधार पर स्वयमेव पन- विकसित होने की व्यवस्था होगी। अतः व्यक्ति समाज का स्वतः

ही अंग होगा, स्वतः ही उसके अनुशासन में होगा। इस प्रकार यह संगठन मानव के व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखकर तथा समाज को सबके कल्याण के लिये विकसित होने देकर मानव और समाज दोनों के चिरंतन सत्य का संरक्षण करेगा। इस प्रकार समाज के संगठन का मौलिक आधार सत्य होगा।

सर्वोदय व्यवस्था—सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित व्यक्ति का शिक्षण, जीवन और दृष्टि तथा समाज का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक संगठन निश्चय ही पूँजीवाद की भांति कुछ व्यक्तियों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नाम पर अत्यधिक अधिकार और धन प्रदान कर देने तथा साम्यवाद की भांति इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों को समाज हित के नाम पर अत्यधिक शक्ति और सत्ता प्रदान कर देने और इस प्रकार हिंसा, संघर्ष, विनाश और अवनति की ओर बढ़ने का मौका नहीं देगा, बल्कि मानव और समाज दोनों का स्वतन्त्र और सही समन्वय करके दोनों को एक दूसरे के हित में बढ़ने और समृद्ध होने का मौका देगा। इस प्रकार की व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिये होगी, वह सबके हित में होगी, किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों या अधिकांश व्यक्तियों के ही हित में नहीं होगी बल्कि बिना अपवाद सबके हित, सब के उत्कर्ष, सबके उदय के लिये होगी। इस व्यवस्था को गाँधीजी ने सर्वोदय व्यवस्था का नाम दिया है।

इस व्यवस्था की मूलभूत कल्पना मानव के जितनी ही पुरानी है, क्योंकि वह बीज रूप से विश्व के पुराने से पुराने ग्रन्थों से होकर, आज तक के सन्तों, पैगम्बरों और विचारकों की रचनाओं में मौजूद है। उसका तार ऋग्वेद के मन्त्रदृष्टा महर्षियों से लेकर लाओत्से और कनफूशियस, सुकरात और अफलातून, टालस्टाय और क्रोपाटकिन, गाँधी और विनोबा के विचारों में अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। इसके प्रयोग भी हमारी जानकारी में या अनजान में प्रत्येक युग और देश की परिस्थितियों में थोड़े बहुत हुये, लेकिन गाँधीजी ने इसका सबसे बड़ा सामूहिक प्रयोग अपने

जीवन में किया और सत्य तथा अहिंसा के सामूहिक, सामाजिक और सार्वजनिक व्यवहार की कुछ साकार सी कल्पना हमारे सामने रक्खी और इस सम्बन्ध में किस तरफ और किस तरह बढ़ा जा सकता है, इसका अधिक स्पष्ट संकेत उन्होंने अपने विचारों, अपनी संस्थाओं और अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक व्यवहार द्वारा दिया। गांधी युग ने सर्वोदय मानव व्यवस्था के चित्र को संसार के सामने स्पष्ट करने का बड़ा प्रयत्न किया है।

इस चित्र के कुछ आधारभूत सिद्धांतों और विशेषताओं का सूक्ष्म परिचय आगे देने का प्रयत्न किया गया है।

दूसरा खंड

चौथा अध्याय

मानव का लक्ष्य और मार्ग; सत्य तथा अहिंसा

मानव और सृष्टि—मानव न-जाने कब से अपने बारे में, अपने ही जैसे अन्य मानवों के बारे में, और अपने चारों तरफ फैली हुई इस विशाल सृष्टि के बारे में विचार करता आया है। कभी एक वैज्ञानिक की भांति वह बड़ी से बडी और छोटी से छोटी वस्तु और क्रिया का अध्ययन कर उसका विश्लेषण करता है, कभी एक दार्शनिक की भाँति सृष्टि के अनंत भेदों और रूपों का समन्वय करता है, कभी एक कवि की भाँति रूपों के सौंदर्य को देखकर थिरकने लगता है या वेदना से आविर्भूत होकर रो पड़ता है, कभी एक भक्त की भांति एक में सब को देखकर अपने आपको भुला देता है, कभी एक बालक की भांति आश्चर्यचकित होकर रह जाता है और कभी वह कबूतर की तरह अपनी आँखें बंद करके दुनियाँ को ही खतम मानने की असफल कोशिश करता है।

मानव में व्यक्तिगत जिज्ञासा स्वाभाविक—अगर हम मानव का विचार व्यक्ति के रूप में करें तो हम देखते हैं कि मानव इस पृथ्वी पर आते ही, जन्म लेते ही, जानने की क्रिया आरम्भ कर देता है और ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, वह क्रिया अधिकाधिक विस्तृत और प्रबल होती जाती है। यही नहीं, मानव में यह स्वाभाविक जिज्ञासा प्रतीत होती है कि वह अपने चारों ओर के वातावरण को जानने का प्रयत्न करे और अनुकरण के द्वारा सीखे। उसमें कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ भी होती हैं, जिनके कारण कोई व्यक्ति जल्दी तथा अधिक सरलतापूर्वक सीख लेता है, और कोई देर से, तथा कठिनाई से, कोई व्यक्ति किसी विषय को अधिक रुचिपूर्वक सीख लेता है। और अन्य विषय को कम। लेकिन कुछ भी, सीखने,

जानने, अनुभव करने की जिज्ञासा मानव में स्वाभाविक होती है। यह जन्मजात है और आजीवन रहती है। यही नहीं, मानव में यह वृत्ति भी स्वाभाविक लगती है कि वह अपनी संतान को अपना ज्ञान और अनुभव दे डाले। यही कारण है कि बुढ़ापे में जब वह इस संसार को छोड़ने के अधिकाधिक निकट आता जाता है तो यह भावना अत्यन्त बलवान होती जाती है और प्रत्येक मानव यह चाहता है कि उसकी संतान उससे अधिक ज्ञानवान हो और उसके ज्ञान से लाभ उठाने वाली हो। यह भी प्रत्यक्ष है कि मानव अपने जीवन के अन्तिम चैतन्य क्षण तक बराबर कुछ-न-कुछ अनुभव प्राप्त करता रहता है। जानने और अनुभव प्राप्त करने की इच्छा, और जानकर संतोष मानने की भावना भी उसमें बराबर न्यूनाधिक मात्रा में बनी ही रहती है।

मानव समाज की प्रगति, सामूहिक ज्ञान का परिणाम—दूसरी ओर मानव जाति न-जाने कितने पुरातन काल से ज्ञान के भण्डार को बढ़ाती ही आ रही है। मानव जाति का ज्ञान लगातार अधिकाधिक विस्तृत और गम्भीर होता आ रहा है और जितना ज्ञान अब तक संपादित हुआ है, उसके मुकाबले में जितना कुछ जानने को है, वह अनन्त सा ही लगता है; चाहे हम मानव के आंतरिक ज्ञान को लें, चाहे मानव जाति के बाहरी ज्ञान को लें और चाहे मानवेतर स्थूल और सूक्ष्म जगत् को लें। अब तक के मानव जाति के ज्ञान के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मानव जाति भविष्य में भी न-जाने कब तक, शायद जब तक इस पृथ्वी पर रहे तब तक, बराबर कुछ-न-कुछ सीखती और जानती ही चली जायगी, इसमें भी कोई संदेह नहीं लगता।

ज्ञान और कर्म : एक ही तसवीर के दो पहलू—मानव और मानव जाति की ज्ञान सम्बन्धी इस स्थायी और सार्वजनिक वृत्ति से यह [illegible]ित होता है कि ज्ञान ही मानव का व्यक्ति के रूप में और समाज का [illegible] के रूप में, लक्ष्य है; उसी की ओर वह अपने जन्म से बढ़ने का [illegible] करता है, उसी ओर मानव जाति न-जाने किस शैशवकाल से बढ़ती [illegible]ती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ज्ञान की तीव्रता और

पूर्णता में कर्म स्वयम् ही शामिल हो जाता है। ज्ञान की पूर्ति कर्म में, और कर्म की सफलता ज्ञान की दृढ़ता में है। यह बिल्कुल संभव है कि मानव विराट कर्म में संलग्न होकर भी पूर्ण ज्ञान के निकटतम हो और कर्म से बिल्कुल अलग तथा पूर्ण ज्ञान के निकटतम होकर विराट कर्म, तीव्र प्रवृत्ति, का जनक और प्रेरक हो। कृष्ण और महावीर महामानव के दोनों रूप हैं।

ज्ञान के दो अंग: समन्वय और विश्लेषण—ज्ञान स्वाभाविक रूप से विश्लेषक और समन्वयात्मक दोनों ही है, यद्यपि तत्वतः दोनों एक है। घर और गांव जलानेवाली भीषण ज्वाला और भयंकर शीत में प्राणदायिनी अंगीठी की आग दोनों एक ही है, लेकिन एक को बुझाने में मानव को प्राणपण से लगना चाहिये और दूसरी को प्रज्वलित करने और प्रदीप्त रखने में मानव को जुट जाना चाहिये—यह विश्लेषक ज्ञान और अग्नि के शिव और रौद्र रूपों को एकाकार कर उसे देवता रूप में पूजने का ज्ञान समन्वयात्मक है। यह अनेकरूपता में अंतर्हित ध्रुवता और एकरूपता की प्रतीति में अनेकता को खोज निकालने और जान सकने में प्रयत्नशील रहता है।

सत्य ही मानव और मानव समाज का जीवन-लक्ष्य—इस प्रकार मानव में, मानव समाज में और विश्व में जो कुछ है, 'अस्तित्वयुक्त' है, सनातन है, सत् है, उसे समन्वयात्मक रीति से तथा विश्लेषणात्मक रीति से, विवेक से, भावना से, अनुभव से जानना तथा उसे जो कुछ 'नहीं है', अस्थायी है, असत् है उससे अलग करना, सत् को ग्रहण करना असत् से दूर रहना; संक्षेप में सत्य ही मानव और मानव-समाज का जीवन-लक्ष्य है। सत्य को जानने की जिज्ञासा और उसे व्यक्त करने की शक्ति ही मानव की विशेषता है। यही उसे पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि से अलग करने और उनसे ऊँचा कर देने वाली है, पशु पक्षी आदि मनुष्येतर प्राणियों का ज्ञान भावनामूलक है और सीमित है, साधनामूलक और वर्धमान नहीं। सत्य की साधना मानव का उद्देश्य है और समाज की उत्तरोत्तर बड़ी इकाइयों में व्यवस्थित होने की मानवीय आकांक्षा में भी सत्य के बोध की भावना विद्यमान है।

इस प्रकार अविद्या से ज्ञान की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना मानव का स्वभाव है, यही मानव संगठन का आधार है। उसी ओर बढ़ने में मानव की सार्थकता, सफलता और पूर्णता है।

मानव का प्रमुख वृत्ति : जीने की इच्छा—एक बात और। इस जगत में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मृत्यु को टलना चाहता है, उससे दूर रहना चाहता है। जीवन की आकांक्षा जीवन के आरम्भ से ही जन्म लेती है और जीवन के अन्तिम क्षण तक उसमें रहती है। मानव अधिक साधनयुक्त है, क्योंकि वह अपने ज्ञान को संचित और विकसित कर पाया है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे प्रदान कर पाया है, इसलिये वह अपने जीवन की समझी हुई सुरक्षा अन्य प्राणियों का जीवन नष्ट करके भी कर सका है; अन्य प्राणियों में भी बहुत से ऐसा करते हैं। लेकिन इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मानव तथा अन्य सभी प्राणी जीने के इच्छुक रहते हैं। सब मौत से भागना चाहते हैं, दुख से दूर रहना चाहते हैं, सुख की ओर आकर्षित रहते हैं। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, शरीर के छेदन और बन्धन से सभी को पीड़ा होती है। इसी जीने की इच्छा और शारीरिक तथा भावना संबन्धी अनुभवों की समानता, विनाश और भय के कारणों का मिलकर मुकाबला करने की प्रेरणा से पारस्परिकता, प्रेम और अहिंसा की वृत्ति का विकास होता है। जीने की इच्छा सभी प्राणियों में समान रूप से है, लेकिन मानवेतर प्राणियों में उसका विकास ज्ञानपूर्वक नहीं हुआ है, उनमें वह भावना-मूलक है, अतः वे अपने जीवन की इच्छा को दूसरों का घात करके पूर्ति कर लेने का प्रयत्न करते हैं और दूसरे उनका घात करके अपनी इच्छा पूर्ति करते हैं; इस प्रकार जीवन की इच्छा से परिपूर्ण होने पर भी मानवेतर सृष्टि में हिंसा, विरोध और संघर्ष की अधिकता स्वाभाविक रूप से पाई जाती है।

जीवन-संघर्ष और जीवन-सहयोग; एक पशुता की भावना दूसरा मानवता का सिद्धान्त—मानव और मानव-समाज की यह आकांक्षा स्वाभाविक रूप से प्रबल है, लेकिन वह

बुद्धिपूर्वक मानवेतर प्राणियों से कहीं अधिक तीव्रता से इस बात को जान पाया है कि यह आकांक्षा अन्य मानवों में भी प्रबल है और इसकी पूर्ति एक दूसरे को नष्ट करके अपनी सुरक्षा को खतरे में डालने से नहीं होती, बल्कि एक दूसरे से मिलकर सुरक्षा कर लेने और सहयोगपूर्वक रहने से अधिक होती है, वह जीवन की भावना को अधिक व्यापक रूप से, अधिक दूरदर्शितापूर्वक और स्थायी लाभ के हिसाब से समझ पाया है और समझने में प्रयत्नशील है, अतः वह जीवन के स्वाभाविक सिद्धान्त—प्रेम सहयोग और अहिंसा को समझ सका और उनका उपयोग कर सका है। जहाँ जीवन है, वहाँ अहिंसा स्वाभाविक ही है, लेकिन इसे समझने, जानने और अपनाने के लिए जो बुद्धि आवश्यक है वह केवल मानव में ही विकसित हो पाई है। यह सही है कि मानव जाति के विभिन्न समूहों में अपनी अपनी परिस्थितियों के कारण कुछ समूहों में वह अधिक स्पष्ट हो सकी है और अन्यों में बहुत कम।

मानव जाति और अहिंसा—लेकिन यह निःसन्देह है कि जीवन के सिद्धांत को मानव ने न-जाने कब से समझ लिया है और वह इसे अपनाने की कोशिश करता चला आया है। मानव जाति का इतिहास अहिंसा का इतिहास है, मानव संगठन अहिंसा के विकास की कहानी है। परिवार, कबीला, नगर, गाँव, राष्ट्र और राष्ट्रों के संगठन, सभी सामाजिक संगठन, जीवन की आकांक्षा, पीड़ा, कठिनाई, मृत्यु से बचने और इनका मुकाबला मिलजुल कर करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम है। संस्कृतियों का विकास भी इसी का रूप है, विश्व की सभ्यताएँ इसी उद्देश्य को लेकर पनपी और बढ़ी हैं और जब वे इस उद्देश्य को भूल गई हैं, विवेकपूर्ण सहयोग और जीवन के मार्ग को भूलकर भटक गई हैं, तभी वे अशक्त और निष्प्राण होकर नष्ट हो गई हैं।

मानव जीवन का लक्ष्य : सत्य और अहिंसा—इस प्रकार मानव और मानव समाज की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और उनके विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन का लक्ष्य सत्य की साधना है। इसी आदेश की ओर बढ़ने का प्रयत्न मानव और मानव समाज दोनों के लिए

स्वाभाविक है; और चाहे कितने ही अधूरे रूप में सही, मानव और मानव समाज ने इस ओर प्रयत्न किया है और जितना आगे वह बढ़ पाया है वह निश्चय ही गौरवपूर्ण है। इसका जो मार्ग है वह है अहिंसा, प्रेम और सहयोग, वह मार्ग मानव ने अपनाया है। समाज का संगठन परिवार से लेकर राष्ट्रों के संगठन तक तथा संस्कृतियों और सभ्यताओं का संगठन सभी अहिंसा के उत्तरोत्तर विकास और ग्रहण के उदाहरण हैं। इसमें शक नहीं कि व्यक्ति के रूप में, समाज के रूप में भी, वह बहुत अधूरा है, बार बार असफलता उसे प्राप्त हुई है, आज भी सफलता से वह बहुत दूर है, लेकिन मानव और मानव समाज का संगठन दोनों इस बात को सिद्ध करते हैं कि मानव जीवन का आदर्श सत्य की साधना है और उसका मार्ग अहिंसा का विकास है। मानव समाज की समग्र व्यवस्था के—और इसमें अर्थ-व्यवस्था भी शामिल है—यही मूलभूत आधार हैं और इनकी ओर अग्रसर होने में ही मानव की सिद्धि और मानव समाज की प्रगति और सार्थकता है।

पाँचवाँ अध्याय

व्यक्ति और समाज का समन्वय

मानव में सामाजिकता जन्मजात—मानव इस धरती पर छोटे बड़े समूहों में रहता है; अब तक की समाजशास्त्रीय खोज तथा सामग्री ऐसी अवस्था का परिचय नहीं देती, जब मनुष्य कम से कम परिवार की इकाई का अंग न रहा हो। साथ ही मानव जिस प्रकार जन्म लेता है और जन्म लेने के बाद जैसी असहाय अवस्था में वह होता है तथा लालन-पालन की अपेक्षा करता है, बड़ा होने पर भी साथी, मित्र और सहयोगी तथा अनुयायी पाने की जैसी तीव्र भूख उसे रहती है, उससे भी उसका सामाजिक प्राणी होना स्वभाव-सिद्ध प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अब तक जो विकास मानव का हुआ है, जो कुछ ज्ञान और भौतिक साधन मानव ने संपादित किये हैं, वे प्रत्येक पीढ़ी की मानव जाति के सहयोग और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस सहयोग की शृंखला में नई कड़ियाँ जोड़ते जाने से ही संभव हो सके हैं। इस प्रकार मानव समाज के संबन्ध में शोध और अनुसंधान, मानव की प्रकृति और मनोविज्ञान का अध्ययन और मानव संस्कृति तथा सभ्यता का विकास सभी मानव की सामाजिकता के पुष्ट प्रमाण हैं।

व्यक्ति के रूप में, मानव क्षण-भंगुर—मानव व्यक्ति के रूप में क्षणभंगुर और अनित्य है। लाखों मानव जन्मते ही शैशव काल, बाल्यावस्था में या किशोरावस्था में ही इस संसार से चल बसते हैं। जो यौवन के विकास और वृद्धावस्था की पूर्णता को प्राप्त करते हैं, उनके लिये भी मृत्यु किस क्षण उन्हें अपना ग्रास बना लेगी और उनके विचार और कार्य जिनमें उन्होंने अपनी समग्र शक्ति लगा दी है, कब अधूरे रह जायेंगे—यह कोई कभी नहीं कह सकता। कौन सा रोग उनके जीवन को

यातनापूर्ण नहीं बना देगा या कौनसी आकस्मिक दुर्घटना उनके भौतिक अस्तित्व को समाप्त नहीं कर देगी—यह कहना कठिन ही है। अरबों मानवों की इस प्रकार की इसी पृथ्वी पर चलने वाली एक पीढ़ी में, इस प्रकार की इसी पृथ्वी पर भूत काल में रह चुकने वाली और भविष्य में आगे आनेवाली असंख्य पीढ़ियों के बीच, और इस ब्रह्मांड में जिसमें हमारी इस पृथ्वी की स्थिति सागर में एक बूंद से अधिक नहीं है—व्यक्ति के रूप में मानव की नगण्यता, क्षण-भंगुरता और अनित्यता की कल्पना कर सकना भी असंभव हो जाता है।

समाज के रूप में, मानव शाश्वत—लेकिन समाज के रूप में मानव अजर, अमर और शाश्वत है। व्यक्ति जन्म लेता और मर जाता है, लेकिन समाज प्रवाह के रूप में गतिशील रहता है। व्यक्ति के रूप में मानव कुछ वर्ष तक इस संसार में रहता है, लेकिन अपने पूर्वजों की अनादि और अपनी संतान की अंतहीन श्रृंखला की कड़ी के रूप में वह सनातन है। जिस भारतीय समाज ने विश्व की सभ्यता और संस्कृति को इतना समृद्ध किया है—जिसके कुछ प्रतीक हम राम, कृष्ण बुद्ध, महावीर, पतंजलि, शंकराचार्य, अशोक, अकबर, पद्मिनी, प्रताप के रूप में देखते हैं, या ऋग्वेद और महाभारत, अजंता के चित्र, देलवाड़ा और ताजमहल, भारतीय संगीत और आयुर्वेद आदि के रूप में देखते हैं, उनमें भारतीय मानव समाज की सैकड़ों पीढ़ियों के प्रत्येक मानव का कुछ न कुछ अनुदान अवश्य है, और उसी के परिणाम-स्वरूप भारतीय संस्कृति और सभ्यता इतनी समृद्ध हो सकी है। इसी प्रकार विश्व की सभी प्राचीन और अर्वाचीन, ज्ञात, अल्पज्ञात तथा अज्ञात संस्कृति और सभ्यताओं का विचार करें, तो समाज के रूप में मानव की महत्ता और विराटता का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु मानव नगण्य नहीं—साथ ही यह समझ लेना भी ... है कि मानव व्यक्तिगत रूप से इस विराट मानव समूह में ... भी नगण्य हो, किन्तु मानव और समाज का संबन्ध यांत्रिक नहीं ... के पुर्जे अपने आप में बिल्कुल व्यर्थ होते हैं, उन सबके यथा-

स्थान नियोजित किये जाने पर ही यन्त्र चलता है। लेकिन इसके विपरीत मानव अपने आप में पूरी इकाई है और सब मिलकर समाज को 'कार्य-शील' भी बनाते हैं। प्रत्येक मानव अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति और क्षमता का बहुत कम अंश उपयोग कर पाता है, उसके उपयोग और विकास की बहुत बड़ी संभावनाएँ सदा ही मौजूद रहती हैं। असाधारण परिस्थितियों में साधारण मानव भी जैसी असाधारण शक्ति का परिचय दे देते हैं—उससे उनकी सुप्त क्षमता का कुछ अनुमान हो जाता है,

मानव की उन्नति समाज में ही सम्भव—इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मानव की शक्ति और क्षमता विशेष परिस्थितियों में ही जाग्रत होती है और प्रबलता प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में, मानव का विकास और उसकी उन्नति समाज में ही संभव है। अपने आप को भुलाकर, शारीरिक अस्तित्व तक से ऊपर उठकर ही मानव अपनी क्षमता को प्रगट कर पाया है, मानव संस्कृति और सभ्यता को, मानव-समाज के संरक्षण को अपनी अधिक से अधिक देन दे पाया है। योगियों की तपस्या; वीरों के बलिदान और जौहर की ज्वाला में ही—समाज में अपने आपको लय करके ही मानव ने अपना अधिकतम विकास किया है; शरीर से परे अपनी आत्मा में या ईश्वर में स्वयं को विलीन कर देने का भी यही अर्थ है।

व्यक्ति और समाज की सार्थकता—लेकिन जहाँ मानव की पूर्णता समाज में लीन हो जाने में है, वहाँ समाज की सार्थकता प्रत्येक मानव को अपने अधिकतम विकास का अवसर प्रदान करने में है। जहाँ एक व्यक्ति या समाज के अल्पसंख्यक व्यक्तियों के हित में समाज का सङ्गठन और संचालन हो, वहाँ समाज के बहुमत का उपयोग उसी अल्पसंख्यक वर्ग के स्वार्थ-साधन में होगा। यही नहीं, बल्कि जहाँ समाज-व्यवस्था बहुसंख्यक वर्ग के हित में भी हो, वहाँ भी समाज की पूर्ण सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि अल्पसंख्यक वर्ग को विकास का अवसर नहीं मिलेगा। वही समाज सार्थक और पूर्ण माना जा सकता है,

यातनापूर्ण नहीं बना देगा या कौनसी आकस्मिक दुर्घटना
भौतिक अस्तित्व को समाप्त नहीं कर देगी—यह कहना कठिन है।
अरबों मानवों की इस प्रकार की इसी पृथ्वी पर बसने वाली इकाई
में, इस प्रकार की इसी पृथ्वी पर भूत काल में रह चुके
और भविष्य में आने वाली असंख्य पीढ़ियों के बीच, और
ब्रह्मांड में जिसमें हमारी इस पृथ्वी की स्थिति सागर में एक बूंद
अधिक नहीं है—व्यक्ति के रूप में मानव की नगण्यता, क्षणभंगुरता
और अनित्यता की कल्पना कर सकना भी असंभव हो जाता है।

समाज के रूप में, मानव शाश्वत—लेकिन समाज के रूप में मानव अजर, अमर और शाश्वत है। व्यक्ति जन्म लेता और मर जाता है, लेकिन समाज प्रवाह के रूप में गतिशील रहता है। व्यक्ति के रूप में मानव कुछ वर्ष तक इस संसार में रहता है, लेकिन अपने पूर्वजों की अनादि और अपनी संतान की अंतहीन शृंखला की कड़ी के रूप में वह सनातन है। जिस भारतीय समाज ने विश्व की सभ्यता और संस्कृति को इतना समृद्ध किया है—जिसके कुछ प्रतीक हम राम, कृष्ण बुद्ध, महावीर, पतंजलि, शंकराचार्य, अशोक, अकबर, पद्मिनी, प्रताप के रूप में देखते हैं, या ऋग्वेद और महाभारत, अजंता के चित्र, देलवाड़ा और ताज महल, भारतीय संगीत और आयुर्वेद आदि के रूप में देखते हैं, उनमें भारतीय मानव समाज की सैकड़ों पीढ़ियों के प्रत्येक मानव का कुछ न कुछ अनुदान अवश्य है, और उसी के परिणाम-स्वरूप भारतीय संस्कृति और सभ्यता इतनी समृद्ध हो सकी है। इसी प्रकार विश्व की सभी प्राचीन और अर्वाचीन, ज्ञात, अल्पज्ञात तथा अज्ञात संस्कृति और सभ्यताओं का विचार करें, तो समाज के रूप में मानव की महत्ता और विराटता का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु मानव नगण्य नहीं—साथ ही यह समझ लेना भी आवश्यक है कि मानव व्यक्तिगत रूप से इस विराट मानव समूह में कितना भी नगण्य हो, किन्तु मानव और समाज का संबन्ध यांत्रिक नहीं है। यंत्र के पुर्जे अपने आप में बिल्कुल व्यर्थ होते हैं, उन सबके

विश्व में किसी सूक्ष्म और रहस्यमय शक्ति की सत्ता से इन्कार न करते हुए भी इसमें देववाद की अस्वीकृति है। व्यक्ति के शिक्षण की संभावना बहुत पुरानी है, लेकिन समाज के योजनापूर्वक निर्माण की संभावना और व्यवहारिकता बहुत नई है। १६वीं शताब्दी के पूर्व तक समाज-रचना स्वयमेव ही होती जाती थी, शक्तियों के घात-प्रतिघात के क्रम के परिणाम-स्वरूप समाज में स्वयमेव परिवर्तन होते जाते थे। इनकी व्याख्या बाद में की जा सकती थी, लेकिन इनकी योजना पहले से किया जाना सम्भव नहीं था। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा उनके व्यापक प्रसार, अर्थ-विज्ञान की उन्नति और विकास और खासकर रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण और उनकी पूर्ति के कारण सारी दुनियाँ में योजनापूर्वक समाज-निर्माण की संभावना, आवश्यकता और उपयोगिता स्पष्ट हो गई है और यह मान लिया गया है कि निश्चित सामाजिक आदर्श के अनुकूल समाज-रचना की जा सकती है और व्यक्ति के शिक्षण और जीवन को उक्त आदर्श की पूर्ति की दृष्टि से समग्र दिशा दी जा सकती है.

समाज-रचना का आदर्श : व्यक्ति का विकास—इसका अर्थ यह हुआ कि अब इस तरह की समाज-रचना संभव और वाँछनीय है, जिसमें समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास का अधिकतम अवसर मिल सके, जिसमें समाज को प्राप्त सभी साधनों का संतुलित उपयोग इस विकास के लिए हो सके। इन साधनों में जहाँ जनता के शिक्षण द्वारा उनके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावना संबन्धी शक्तियों का उचित संस्कार और उपयोग शामिल है, वहाँ भौतिक साधनों की प्राप्ति, विनिमय, वितरण और उपयोग भी मान्य हैं। उक्त दोनों प्रकार के साधनों की योजना व उपयोग से ही ऐसे समाज की रचना हो सकती है, जिसमें सबका कल्याण हो—जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के हित में स्वयं को लीन कर दे और समाज प्रत्येक व्यक्ति के हित को संरक्षित और संवर्द्धित करता रहे, [illegible]
[illegible]

छठा अध्याय

जीवन की समग्र दृष्टि

का; राजनैतिक स्थिति का असर उस पर पड़ेगा। ही, उसकी पारिवारिक स्थिति या अन्य सामाजिक स्थितियों का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहेगा; उसके धार्मिक विचारों से उसका व्यवसाय प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता; उसके नैतिक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक धरातल के असर से भी व्यवसाय बिल्कुल खाली नहीं रह सकता। इसी प्रकार उसके सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन पर उसके व्यवसाय का प्रभाव निश्चय रूप से पड़ेगा। केवल विश्लेषण की दृष्टि से या अध्ययन और ज्ञान की सुविधा के ख्याल से भले ही हम व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं को अलग-अलग करें किन्तु मानव के व्यक्तित्व और जीवन की दृष्टि से ऐसा कर सकना स्वाभाविक नहीं है।

व्यक्तित्व का विभाजन असंभव और अवांछनीय—यदि ऐसा करना सम्भव भी हो, जैसा कि आधुनिक काल में किया जा रहा है, तो भी यह लाभप्रद नहीं है, बल्कि स्पष्टतः हानिकारक, अनुचित और अनावश्यक है। आधुनिक पश्चिमी अर्थशास्त्र में आर्थिक मनुष्य की कल्पना की गई है, जो अर्थशास्त्र से संबंधित प्रश्नों और मामलों पर केवल अर्थशास्त्र की दृष्टि से ही विचार करता है, अर्थात् केवल आर्थिक लाभ हानि के विचार से इनका निर्णय करता है, ग्रहण तथा इन्कार करता है। ऐसा काल्पनिक व्यक्ति चाहे आर्थिक हानियों से बचने और आर्थिक लाभों को गुणित करने में सफल भी हो, लेकिन अगर ऐसा व्यक्ति संभव होगा तो यह व्यक्ति अर्थ-संचय के लिये राष्ट्र के साथ धोखा करनेवाला, समाज को हानि पहुँचाने वाला, धर्म और नैतिकता का सर्वनाश कर देने वाला, और संस्कृति का विनाश कर देने वाला होगा। वह देश-द्रोही होगा, परिवार और समाज द्रोही होगा, धर्म और नीति-द्रोही होगा और संस्कृति-द्रोही होगा। ऐसा व्यक्ति समाज का अङ्ग बनकर नहीं रह सकता; या तो समाज को यह नष्ट कर देगा, या समाज को उसे नष्ट कर देना होगा। इसी प्रकार विशुद्ध वैज्ञानिक की, विशुद्ध राजनैतिक की, विशुद्ध धार्मिक या नैतिक की या विशुद्ध संस्कृति-निष्ठ की कल्पना भी ऐसी ही भयानक होगी। यथा अम, मैकियावेली और इन्क्विजिशन; इसी एकांगिता या

दी जाती है तो वह विकृति की सीमा तक पहुँच जाती है और समाज के लिए लाभदायक न रहकर हानिकारक हो जाती है। देशभक्ति की अतिरंजित भावना सत्य और न्याय को कुन्ठित करके समाज को संकुचित द्वेष भावना युक्त और अप्रगतिशील बना देती है। इसी प्रकार स्वदेशी की भावना, धार्मिकता या धर्म प्रचार की भावना, सैनिकता की भावना विकृत होकर प्रान्तीयता, कट्टरता और सैन्यवाद की पशुता में परिणित हो जाती है।

व्यक्ति और समाज के जीवन में समग्र दृष्टि आवश्यक— इसलिये व्यक्ति और समाज के अध्ययन, आयोजन और व्यवहार में यह आवश्यक है कि जीवन के प्रति समग्रता की भावना को न भुलाया जाय। मानव जीवन का समग्र दृष्टिकोण ही अध्ययन और व्यवहार दोनों को संतुलित और सही रख सकता है, उसमें भ्रम और गलती की संभावनाओं को कम से कम रख सकता है। अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नहीं कर सकते, विज्ञान को जीवन से या नीति-शास्त्र से दूर नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र समाज-शास्त्र से किस प्रकार सम्बन्ध विच्छेद करेगा! ये सभी शास्त्र राजनीति से किस प्रकार अलग हो सकते हैं।

सत्य और न्याय केवल दर्शन और नीति के विषय नहीं— यह विचार ही भ्रामक है कि सत्य और न्याय का विचार नीतिशास्त्र या आचार-शास्त्र के विवेचन में ही करना चाहिये। अर्थशास्त्र राजनीति और विज्ञान में इनका विचार आवश्यक नहीं। इनका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों का सत्य और न्याय से कोई सरोकार नहीं होगा। यदि ऐसा हुआ तो उन व्यक्तियों की समाज के प्रति क्या जिम्मेदारी होगी और ऐसे क्षेत्र क्या समाज के हितकारक नहीं होंगे! ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान मानव शास्त्र न रहकर दानव शास्त्र क्यों नहीं बन जायेंगे!

जीवन के आधारभूत सिद्धान्त समग्र व्यक्ति और समग्र समाज पर लागू—वास्तविक बात तो यह है कि यदि सत्य और न्याय, मानवता और लोकतन्त्र, अहिंसा और प्रेम मानव जीवन के आधारभूत सिद्धान्त या मापदंड हैं तो उनका एकसा स्थान व्यक्ति और समाज के सभी शास्त्रों में होगा और जीवन के सभी व्यवहारों में उनका एकसा उपयोग होगा। किसी में वह बहुत अधिक और किसी में वह बिल्कुल न हो, बल्कि उसके विपरीत किसी में असत्य और अन्याय, द्वेष और हिंसा ही मापदन्ड बन जाय—ऐसा नहीं हो सकता। आज के विकृत अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में यही हो गया है। आज का अर्थशास्त्री राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक मानव जीवन के शाश्वत मापदंडों को छोड़ बैठा है, उन्हें वह नीतिशास्त्रियों और धर्मशास्त्रियों की चीज मान बैठा है। परिणाम यह हुआ कि आज के अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में से मानवता का बहिष्कार होकर दानवता का आधिपत्य जम गया है और जो ज्ञान और व्यवहार सत्य, न्याय और मानवता के विकास और सेवा में काम आने चाहिये थे, व असत्य, अन्याय और दानवता को बलवान बनाने में काम आ रहे हैं। अतः यदि मानवता की, व्यक्ति और समाज की रक्षा करना और उनका उत्कर्ष हमें अभीष्ट है तो हमें इनमें से दानवता को निकाल बाहर करना होगा, मानवता की प्रतिष्ठा करनी होगी; और जीवन के समग्र दृष्टिकोण को अपनाना ही होगा।

सातवाँ अध्याय

स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदान

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतम्पीबेत्'—यह कहावत संभवतः उतनी ही पुरानी है जितना मानव स्वयम्, लेकिन पुरानी होने से कोई चीज उपादेय नहीं बन जाती। नई होने से कोई अनुपयोगी हो हो—ऐसी बात भी नहीं है। ईसा को इसी चार्वाक दृष्टिकोण से घबराकर कहना पड़ा था कि मानव केवल रोटी से ही नहीं जीता, और उससे भी छः शताब्दी पूर्व चीन के महान दार्शनिक लाओत्जे ने कहा था—विश्व शाश्वत् है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वह अपने लिए नहीं जीता। भारतीय विचारकों ने तो प्रेम—स्थूल आकर्षण—और स्वार्थ के मुकाबले में श्रेय—सूक्ष्म हित और कर्त्तव्य—को ही सदा महत्व दिया है और इस प्रकार पूर्व ने सहस्राब्दियों से ही भौतिक सुख-साधनों को सब कुछ समझने के बजाय आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म हित की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया है। यूरोप में भी सुकरात से लेकर मध्य काल के अंत तक आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों पर नीति शास्त्र का अंकुश न्यूनाधिक रूप में बराबर माना जाता रहा।

यूरोप का भौतिकवाद—लेकिन यूरोप के सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने मानव के भौतिक शरीर को ही सम्पूर्ण मानव समझा और उन्होंने यह सिद्ध किया कि भौतिक सुख की प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है और भौतिक स्वार्थ-साधन ही उसके प्रत्येक कार्य और निर्णय की प्रेरक शक्ति है। मानव को केवल शरीर मानकर विचार करने पर अन्य कोई निर्णय संभव ही नहीं था, लेकिन वे इस प्रयोग के फलस्वरूप जिस परिणाम पर पहुँचे, वह वस्तुस्थिति से बिल्कुल भिन्न था।

इन्हीं दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रभावित राजनैतिक और

अर्थशास्त्रीय विचारकों ने सामाजिक और राजनैतिक प्रकार की कल्पना की, जिसमें मानव को या तो भेड़िये की तरह खूंखार, स्वार्थी और अनाचारी माना गया, या भेड़ की तरह मूर्ख और अनसमझ समझा गया; और दोनों हालतों में उसकी स्वार्थवृत्तियों मूर्खता पर अंकुश रखने के लिए सामाजिक और राजनैतिक संगठन करके सारी सत्ता और अधिकार एक सर्वशक्तिमान् और निरंकुश शासक को सदा के लिए सौंप दिए गए। इस प्रकार समाज-संगठन को मानव के लिए स्वाभाविक न मानकर बनावटी और ऊपर से लादा हुआ माना गया, जो ऐतिहासिक, समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक सभी दृष्टियों से गलत साबित हो चुका है।

वास्तव में ऐसे किसी समय की कल्पना नहीं की जा सकती, जब मानव समाज-संगठन से रहित रहा हो। मानव का जन्म और उसके लालन-पालन तथा संरक्षण की आवश्यकता समाज को पहिले से ही मानकर चलती है; वह किसी समय में मानव के बाद ऊपर से लादी हुई या स्वीकार की हुई नहीं हो सकती। स्वयं मानव में सामाजिकता मिलजुल कर रहने की और एक दूसरे के लिए स्वार्थ-त्याग, सहायता और सहानुभूति की भावना जन्मजात है, वह मानव स्वभाव के अंतर्गत और अभिन्न है। वह माता पुत्र के स्नेह के समान स्वाभाविक और अनिवार्य है।

मानव केवल शरीर नहीं—दरअसल मानव केवल शरीर ही नहीं है, वह भौतिक शरीर के अतिरिक्त और उससे अभिन्न कुछ सूक्ष्म तत्व और भी है, जिसका अनुभव संसार भर के अनुभवी विचारकों ने प्रत्येक युग में और प्रत्येक देश में किया है। कुछ ने इसे आत्मतत्व का नाम दिया है, कुछ ने ईश्वर में इसका अनुभव किया है, कुछ इसे प्रकृति का नाम देते हैं। लेकिन यह सारी परिभाषाएँ दार्शनिकों, संतों और वैज्ञानिकों ने दी है। आज के समाजशास्त्रियों और राजनैतिक विचारक भी, जो ईश्वर और आत्मा के विचार को दार्शनिकों के लिए छोड़ देते हैं और प्रकृति के विचार को वैज्ञानिकों तक सीमित मानते हैं, मानव से अलग और उसके अंतर्गत एक सूक्ष्म तत्व को स्वीकार किये बिना नहीं रह पाये हैं; वे इसे समाज का नाम देते हैं। समाज एक ऐसा सूक्ष्म और साथ

ही प्रत्येक मानव समूह में और समग्र मानव समूह में व्याप्त ऐसा सत्व है; जो लगभग अनिर्वचनीय है, लेकिन जिसका अस्तित्व अनुभव किया जाता है और मानव के लिये अपने आचरण को समाज-हित की कसौटी पर निरंतर कसते रहना आवश्यक माना जाता है।

सहयोग और स्वार्थत्याग—मानव के पूर्व इतिहास का अध्ययन किया जाय तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि मानव समाज में सदा आपसी सहयोग, सहायता और सहानुभूति ही प्रमुख रहे हैं, इन्हीं के कारण दर्शन, विज्ञान और कला में मानव ने उन्नति की है। सहयोग, सहानुभूति और शान्ति सदा नियम रहे हैं, प्रतिद्वन्दिता, द्वेष और युद्ध सदा ही अपवाद रहे हैं। स्वार्थपरता ने मानव को बहकाया है, अज्ञान ने उसे गलत रास्ते पर डाला है; लेकिन स्वार्थपरताके घोर अन्धकार में भी स्वार्थ-त्याग, व उज्ज्वल दर्शन सदा हुआ है और मानव ने अपनी स्वार्थपरता पर पश्चाताप ही किया है।

यदि हम वर्तमान मानव का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन करें तब भी यही विदित होगा कि मानव के सारे सामाजिक संबन्ध—माता-पिता, भाई-बहिन, अध्यापक-विद्यार्थी, शासक-शासित, उत्पादक-उपभोक्ता, वितरक प्राप्तिकर्ता आदि—स्वार्थत्याग की भावना पर ही निर्भर हैं। आज के युग के वातावरण और शिक्षण के बावजूद, जिसमें स्वार्थपरता को स्वाभाविक और आवश्यक बता कर उसे देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है, मानव पद-पद पर स्वार्थ-त्याग और सहयोग की भावना का दर्शन करता ही रहता है।

आज की विपरीत परिस्थिति में भी—यह स्थिति तब है, जब आज का सारा प्रचलित दर्शन-शास्त्र मानव को स्वार्थी मानता है, सारा इतिहास और समाजशास्त्र उसे लड़ाकू, अन्यायी, प्रतिद्वन्दी और शोषक के रूप में चित्रित करता है, आज का सारा अर्थशास्त्र प्रतिद्वन्दिता और स्वार्थ-साधन पर अवलंबित है। आज का सारा शिक्षण, सारा वातावरण, सारा समाज-संगठन, सारी राजनीति—यही नहीं, धर्म नीति भी स्वार्थसिद्धि का ही समर्थन करती है और स्वार्थ-साधकों का ही सम्मान करती है, उन्हें आदर्श मानती है, उनकी पूजा करती है।

यदि मानव दृष्टिकोण को शुद्ध किया जाय—इसके विपरीत, जैसा कि मानव वास्तव में है, यदि दर्शनशास्त्र मानव को स्वार्थ-त्यागी और सहयोगी के रूप में चित्रित करे, स्वार्थपरता और संघर्ष को मानव की विकृति स्वीकार करे और उसे दूर करने में मानव की सफलता और मानवता की सिद्धि मानी जाय, यदि इतिहास और समाजशास्त्र इन अपवादस्वरूप स्वार्थपरताओं, लड़ाइयों, अन्यायों आदि पर ही जोर न देकर आत्मबलिदान और स्वार्थ-त्याग के आदर्शों और उदाहरणों को उनके सही अनुपात में सामने रक्खे, यदि अर्थशास्त्र मानव को केवल स्वार्थी न मानकर समग्र मानव समझे और वही मानकर अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्ररूपण करें और सारा शिक्षण मानव की वास्तविकता के अनुकूल हो तथा समाज-संगठन में भी इस पर जोर दिया जाय तो कोई कारण नहीं है कि मानव का सारा दृष्टिकोण ही बदल जाय और स्वार्थत्याग, तथा आत्म-बलिदान के सिद्धान्त और व्यवहार, जिन्हें मानव अपवादस्वरूप माने बैठा है, जीवन के प्रतिदिन और प्रति क्षण के लिये आधारभूत और स्वाभाविक स्वीकार कर लिए जायें और मानव की वैयक्तिक और सामाजिक विकृतियाँ उत्तरोत्तर कम होती जायं और वह अपनी सच्ची स्थिति को उत्तरोत्तर प्राप्त होता जाय।

स्वार्थत्याग और आत्म-बलिदान ही आधारभूत प्रेरणायें—अतः यह स्वीकार कर लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये कि मानव और समाज में स्वार्थ-त्याग और बलिदान ही वास्तविक कल्याणकारी और आधारभूत तथ्य हैं, स्वार्थपरता और प्रतिद्वंदिता उसकी विकृतियां हैं, जो शिक्षण और समाज-संगठन के सुधार के परिणाम-स्वरूप निश्चय ही दूर हो जाने वाली हैं। मानव के सभी वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार और व्यवस्थाएँ, जिसमें अर्थव्यवस्था भी शामिल है, स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदान को मानव के लिए सहज, स्वाभाविक और आवश्यक स्वीकार करके, विचारी जानी चाहिये।

आठवाँ अध्याय

सहयोग की व्यापकता

मानव जीवन का लक्ष्य सत्य की साधना है, यह हमने निश्चित किया; लेकिन सत्य क्या है, यह प्रश्न मानव को न-जाने कब से परेशान करता आया है और न-जाने कब तक परेशान करेगा। इस परेशानी का एक ही कारण है, और वह यह कि मानव सदा इस भ्रम में पड़ जाता है कि वह वर्तमान में ज्वर से पीड़ित कराहते मानव को सत्य समझे या ज्वर की स्थिति से पहले के या बाद के स्वस्थ, हट्टे-कट्टे, ताजा मानव को सत्य समझे। अफलातून ने सद्गुण को ज्ञान या सत्य कह कर इस भ्रम का निराकरण कर दिया था, भारतीय आचार्यों ने विविध प्रकार से शिव और सुन्दर को, विशुद्धतम और सर्वश्रेष्ठ को, ब्रह्म को या आत्मा को, ईश्वर को सत्य कह कर इस प्रश्न को सुलझा दिया है। गांधी जी ने चिरस्थायी और शाश्वत को, सत् को सत्य कहकर यही बात समझाने की कोशिश की है। व्यक्ति की और समाज की जो श्रेष्ठतम स्थिति है, वही सत्य है और उसी तक पहुँचने का प्रयत्न प्रत्येक मानव और प्रत्येक समाज करता है; करे, विघ्न-बाधाओं के बावजूद करे, यही उसकी साधना है; यह भावना अहिंसा के मार्ग से न्यूनाधिक रूप में होती आ रही है। अब अधिकाधिक हो, यह सर्वोदय की भावना है।

यूरोप का दृष्टिकोण—इसके विपरीत यूरोप में मध्य काल में यह प्रतिपादित किया गया, कि मानव केवल अपने स्वार्थ साधन की भावना से ही समाज-संगठन में बंधा है; जैसी अपूर्ण स्थिति में वह है, वही सच्ची स्थिति है। रोगी और घायल मानव ही मानवता का सच्चा प्रतीक है, स्वार्थ-साधन के लिए अन्य मानवों से खूनी संघर्ष में संलग्न मानव ही

जाती है। लोगों के बुरे बर्ताव, संघर्ष, प्रतिद्वन्दिता, प्रतीकार आदि का भी सामना उसे करना पड़ता है, लेकिन इन सब पर भी चाहे वह विजय प्राप्त करे तो यह उसे अपने सहयोगियों के सहारे से ही प्राप्त होती है, और इनसे उसे हारना भी पड़े तब भी वह हार अधिकांश में अपने सहयोगियों की मदद के बावजूद भुगतनी पड़ती है, और हार के बाद भी वह जीता रहता है और विजय के प्रयत्न में लगता है, तो भी वह जीवन और वह प्रयत्न उसके सहायकों और सहयोगियों के प्रोत्साहन और मदद का ही फल है। अतः यदि सभी दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि सहयोग ही मानव जीवन का धर्म है, और यही मानव जीवन की वास्तविकता है; संघर्ष और प्रतिद्वन्दिता अल्पकालिक है और अपवादमात्र है; उन्हें मानव जीवन के शाश्वत और संचालक तथ्य मान लेना गलत हुआ है। इस गल्ती को मानव समाज जितनी जल्दी ठीक कर ले, उतना ही वह सत्य के निकट पहुँच सकेगा और अहिंसा के महत्व को समझ सकेगा, जिस पर मानव और मानव समाज दोनों का जीवन और प्रगति आधारित है।

मानव और पशु-पक्षियों में अन्तर—एक बात और। डार्विन का जीवन-संघर्ष और सर्वश्रेष्ठ के जीवन का सिद्धान्त अधिकांश में पशु-पक्षियों के जीवन के उदाहरणों पर आश्रित है; यह आवश्यक नहीं है कि मानव जीवन पर वे उदाहरण ज्यों के त्यों लागू हों ही। दूसरी बात यह भी है कि डार्विन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में पशु-पक्षियों के सहयोग और निर्बलों को सहायता देने के उदाहरणों को बिल्कुल ही छोड़ दिया है; यह चाहे जानबूझ कर किया गया हो या अनजाने, इससे उनके प्रतिपादन में एकांगिता आ गई है। इस पहलू का विवेचन प्रिंस क्रोपाट-किन ने किया है, जिसमें उन्होंने सहयोग और सहायता सम्बन्धी उदाहरण पशु और पक्षी जगत् से दिए हैं। जो लोग पशु-पक्षियों के जीवन के उदाहरणों को ही मानव जीवन पर लागू करना चाहते हों, उन्हें डार्विन के साथ क्रोपाटकिन का भी अध्ययन कर निष्कर्ष निकालना चाहिये। लेकिन हमारा तो मानना है कि मानव जीवन के सिद्धान्त मानव जीवन का

अध्ययन करके ही स्थिर किये जा सकते हैं, पशु-पक्षियों के जीवन के अध्ययन से मानव जीवन का सिद्धान्त निश्चय करने की पद्धति मूल में ही दोषपूर्ण है, अतः डार्विन का मूलभूत आरम्भ ही गलत है और क्रोपाटकिन ने उनके सिद्धान्त को उन्हीं के दूसरी ओर के तथ्यों से भ्रामक साबित कर दिया है। लेकिन इस सबके बावजूद डार्विन के सिद्धान्त का प्रभाव समाज-विज्ञानों पर बहुत ही हानिकारक हुआ है और उनका सारा दृष्टिकोण ही अवास्तविक और उल्टा हो गया है।

डार्विन और मार्क्स—यही नहीं, कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों विशेषकर इतिहास की भौतिक व्याख्या और 'वर्ग-संघर्ष ही अनिवार्य' के सिद्धान्तों पर डार्विन की स्पष्ट छाप है। मार्क्स ने आर्थिक साधनों को इतना अधिक महत्व दे दिया है कि मानो समग्र मानव केवल पेट ही है और केवल रोटी ही मानव के समग्र जीवन, विचार और आदर्श का संचालन करती है। अंश कितना ही बड़ा हो वह समग्र के बराबर नहीं हो सकता— इस सरल सत्य को वे भूल से गये हैं। केवल आर्थिक साधनों की छीना-झपटी ने ही मानव के समग्र इतिहास का निर्माण किया, यह चाहे जितना महत्वपूर्ण तथ्य माना जाय, किन्तु सम्पूर्ण तथ्य नहीं हो सकता। मानव जानबूझ कर दूसरों के लिए कष्ट सहन करता है, त्याग करता है, माता अपने शिशु के लिए, बहिन अपने भाई के लिए, पुत्र अपने पिता के लिए, मित्र मित्र के लिए और साधारण मानव अन्य गाँव वालों के लिए, देश वालों के लिए, अपरिचित लोगों के लिए, आने वाली भावी पीढ़ियों के लिए, सुख, सुविधाओं का सृजन करते हैं; स्वयं कष्ट सहकर उनके लिए आराम देते हैं, स्वयं अभाव में रहकर उनको अभावहीन करने का प्रयत्न करते हैं, छोटे-मोटे त्याग से लेकर अपने जीवन तक का खुशी खुशी बलिदान कर देते हैं और यह सब आर्थिक स्वार्थ-सिद्धि की भावना के बिना भी होता है। क्या इसके लिए बहुत से उदाहरणों की आवश्यकता है? क्या हम आज कदम-कदम पर अपने पूर्वजों के कष्ट-सहन और स्वार्थ-त्याग से उत्पन्न सुख सुविधाएँ नहीं भोग रहे हैं।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत भ्रामक—इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत भी बहुत कुछ एकांगी और भ्रांतिपूर्ण है। किसी भी देश में मानव समूह दो स्पष्ट, निश्चित और परस्पर विरोधी वर्गों में नहीं बटा रहा; जो सदा एक दूसरे के विरोधी और संघर्षरत ही हों। समाज में सदा ही दो से अधिक वर्ग रहे हैं; और उनकी सीमाएं कभी बिल्कुल निश्चल और सुदृढ़ नहीं रहीं, बल्कि उनमें इधर उधर लोगों का आना जाना पीढ़ी दर पीढ़ी और कभी-कभी एक जीवन में भी एक से अधिक बार रहा है। आज भी यह कहना कठिन है कि पूंजीपति का वर्ग अमुक सीमा पर खतम हो जाता है, मजदूर वर्ग अमुक सीमा पर आरंभ हो जाता है, और इनके बीच में अमुक दुर्लंघ्य खाई है; जिसके इस पार पूंजीपति वर्ग है और उस पार मजूर वर्ग; और इनमें कोई पारस्परिक आवागमन नहीं है।

जान-बूझ कर मूर्खता क्यों ?—एक बात और। कार्ल मार्क्स के द्वारा इतिहास की भौतिक व्याख्या का सिद्धांत प्रतिपादित होने के पूर्व दुनिया की मानव जाति इस प्रकार के वर्ग-संघर्ष में लगी भी रही हो, तो भी आज जब वह उस सिद्धांत को जान और समझ गई है, तब भी वह उसमें क्यों संलग्न रहे, आज भी उसे निर्मम भवितव्यता मानकर क्यों चलने दिया जाय, और खासकर भौतिक और समाजों की वर्तमान उन्नति के फल स्वरूप जब विधेयात्मक भौतिक और मानवीय नियोजन इतना क्रमबद्ध और विस्तृत हो गया है, तब प्रकृति के उस अंधे नियम को चलने देना तो समझदार मानव जाति के लिये अयुक्त और अशोभनीय ही माना जायगा।

सहयोग ही मानव जीवन का मूलभूत सिद्धांत—सच बात तो यह है कि संघर्ष को चाहे पशु-पक्षियों के जीवन में संचालक माना जाय या न माना जाय—बुद्धि, भाषा और लिपि की महान् विशेषताओं से युक्त मानव जाति के जीवन में इसे संचालक सिद्धांत नहीं माना जा सकता। मानव जीवन में यह स्थान सहयोग को ही प्राप्त है! भूतकाल का इतिहास यही सिद्ध करता है, आज भी यह स्पष्ट है। अगर मृत्यु सत्य नहीं, बल्कि जीवन सत्य है, तो यह भी साफ है कि संघर्ष सत्य नहीं सहयोग ही सत्य है। प्रति पल मृत्यु से घिरे रहने पर भी मानव जीता है और अपने अभीष्ट की

संगठन में मानवता और लोकतन्त्र के आधार लगातार शुद्धि, संशोधन और निर्माण तथा इनका उत्तरोत्तर विस्तार होता रहे, तभी मानव की श्रेय सिद्धि संभव है। मानव के समस्त व्यक्तिगत व्यवहार और समाज व्यवस्था में मानवता और लोकतन्त्र का विचार सर्वोपरि रहना चाहिये।

स्त्री और पुरुष—परिवार मानव समाज की सबसे छोटी किन्तु आधारभूत और महत्वपूर्ण इकाई है; स्त्री और पुरुष का साहचर्य और सहजीवन जीवन यापन की सुगमता, जीवन के विकास और समृद्धि तथा जीवन के क्रम को चालू रखने की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। परिवार ही मानव के लिए लोकतन्त्र और मानवता के सिद्धान्तों की पहली पाठशाला है। स्त्री और पुरुष स्वतन्त्र, समान तथा विवेकशील प्राणी हैं। इनमें कुछ भौतिक विभिन्नताएँ हैं, जिनके कारण ये एक दूसरे के पूरक हैं। मातृत्व का उत्तरदायित्व स्त्री पर है, अतः उसे पुरुष से सुरक्षा और सहायता प्राप्त करने का अधिकार है। शारीरिक बल और विकास औसत पुरुष में औसत स्त्री से अधिक है, अथवा सहस्राब्दियों के रहनसहन से बन गया है, लेकिन उसकी पूर्ति वह मातृत्व के भार और कठिनाई के सहन द्वारा कर देती है। अतः वह पुरुष की सहानुभूति की अधिकारिणी है। इसी कारण से संभवतः कोमल भावनाओं का विकास उसमें हुआ है। लेकिन अन्य सब दृष्टियों से स्त्री और पुरुष के अधिकार और कर्तव्य बराबर हैं और उनके कार्यक्षेत्र में कोई विभिन्नता और सीमितता नहीं है। स्त्री पुरुष में एक के ऊँचे और दूसरे के नीचे होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। स्त्री और पुरुष परिवार के स्वतन्त्र, समान और सहायक सदस्य हैं, दोनों की विवेकशीलता, स्वतन्त्रता और सहयोग पर ही सामाजिक जीवन की सफलता निर्भर है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि बाल विवाह, वृद्ध विवाह, बहु विवाह, विधवा विवाह, विधुर विवाह तथा विवाह कौमार्य साहचर्य आदि सभी स्त्री-पुरुष संबन्ध स्वतन्त्रतापूर्ण सहयोग के आधार पर निर्णीत किये जाने चाहिये।

संतति की जिम्मेदारी—संतति की जिम्मेदारी परिवार और समाज दोनों पर है—परिवार पर इसलिए कि स्त्री पुरुष के साहचर्य ने उन्हें जन्म

लिया है और वे परिवार का उत्तराधिकार संभालेंगे, और समाज पर इसः लिए कि वे वयस्क होकर समाज की संस्कृति और सभ्यता का, उसकी सुरक्षा और समृद्धि का उत्तरदायित्व ग्रहण करेंगे। ऐसी स्थिति में संतति का पालन-पोषण, शिक्षण तथा विकास परिवार और समाज की सम्मिलित जिम्मेदारी है। यदि संतति की जिम्मेदारी उठाने में समाज का भाग है तो यह समाज का अधिकार है कि वह संतति के नियमन की अपेक्षा भी, यदि आवश्यक हो तो इच्छानुसार करे।

गांव, कस्बे या शहर के सामाजिक संगठन—परिवारों के समूह से गांव, कस्बे या नगर के सामूहिक और संगठित सामाजिक जीवन का निर्माण होता है, जिसका अपना और स्वतन्त्र राजनैतिक, औद्योगिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन और परम्परा होती है। यह एक अलग इकाई हो जाती है। इकाई के अन्तर्गत जितने परिवार होते हैं, उनकी स्थिति भी स्वतन्त्रता-पूर्वक सहयोग की ही होनी चाहिये। सामाजिक जीवन के लिये सहयोग अनिवार्यतः आवश्यक है, लेकिन वह स्वतन्त्रता-पूर्वक और विवेक-पूर्वक होने से ही अधिकतम लाभप्रद हो सकता है, मानव के लिए भी और समाज के लिये भी। अतः इसमें भी एक परिवार दूसरे परिवार से हीन या श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामूहिक जीवन की सफलता के लिये सभी प्रकार के काम—चाहे उनमें कम शरीर बल के या अधिक शरीर बल के काम हों, कम सफाई या अधिक सफाई के काम हों, कम बुद्धि बल या अधिक बुद्धि बल के काम हों, कम आमदनी या अधिक आमदनी के काम हों—अत्यन्त आवश्यक हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में स्वादिष्ट भोजन करने वाले मुख के मुकाबले में शरीर के विषैले और अनुपयोगी द्रव्य को निकाल फेंकने वाले गुदा और लिंग को हीन मानना केवल अज्ञान होगा, उसी प्रकार से वेदपाठी ब्राह्मण और मैला उठाने वाले हरिजन में, सफेद-पोश वकील या जौहरी और मैले किसान तथा मिल-मजदूर में, गोरे रंग के अमेरिकन, अंग्रेज या कश्मीरी और काले रंग के हब्शी, पीले रंग के चीनी या लाल रंग के इण्डियन में, किसी प्रकार की ऊँच नीच, छूत-छात या हीनता-श्रेष्ठता का विचार करना गलत, अज्ञानपूर्ण और अनावश्यक

[illegible] है और व्यक्ति या आर्थिक वर्गों, और समाज का [illegible]
[illegible] कि वे स्वयं होकर समाज की संस्कृति और सभ्यता का इसी
[illegible] और, अर्थात् इन उद्देश्यों का आदर करेंगे। ऐसी परिस्थिति में प्रगति
[illegible] स्वच्छन्दता, शिक्षा तथा विकास परिवार और समाज की सामाजिक
[illegible] है; क्योंकि संगठन की जिम्मेदारी उठाने से [illegible] जाता है
[illegible] यह समाज का इतिहास है कि वह संगठन के नियमन को कैसा भी,
[illegible] आवश्यक हो तो स्वीकार ही करे।

गांव, कस्बे या शहर के सामाजिक संगठन — पंचायतों के अनु-
[illegible] और, इसके या अन्दर के सामूहिक और संगठित सामाजिक जीवन का
निर्माण होता है, जिससे उसका और समस्त राजनैतिक, औद्योगिक, आर्थिक
और सांस्कृतिक जीवन की व्यवस्था होती है। यह एक बड़ी इकाई हो
सकती है। इसके अन्तर्गत जितने परिवार होते हैं, उनकी स्थिति भी
स्वतन्त्रता-पूर्वक सहयोग की ही होनी चाहिये। सामाजिक जीवन के लिये
सहयोग अनिवार्यतः आवश्यक है, लेकिन वह स्वतन्त्रता-पूर्वक और विवेक-
पूर्वक होने से ही अधिकतम लाभप्रद हो सकता है, मानव के लिए भी और
समाज के लिये भी। अतः इसमें भी एक परिवार दूसरे परिवार से हीन या
श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामूहिक जीवन की सरसता के लिये
सभी प्रकार के काम—चाहे उनमें कम शारीर-बल के या अधिक शारीर बल
के काम हों, कम पढ़ाई या अधिक पढ़ाई के काम हों, कम बुद्धि बल या
अधिक बुद्धि बल के काम हों, कम आमदनी या अधिक आमदनी के काम
हों—समान आवश्यक हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में स्वादिष्ट भोजन
करने वाले मुख के मुकाबले में शरीर के लिये मैले और अनुपयोगी द्रव्य को
निकाल फेंकने वाले गुदा और लिंग को हीन मानना केवल अज्ञान होगा,
उसी प्रकार से वेदपाठी ब्राह्मण और मैला उठाने वाले हरिजन में, सफेद-
पोश वकील या नौकरी और मैले किसान तथा मिल-मजदूर में, गोरे रंग
के अमेरिकन, अंग्रेज या फरासीसी और काले रंग के हब्शी, पीले रंग के
चीनी या लाल रंग के [illegible] में; किसी प्रकार की ऊँच नीच, छूत-छात
[illegible] भावनाएं और असमानता [illegible]

है। इस प्रकार की विषमता का सर्वोदयी समाज संगठन में कोई स्थान नहीं हो सकता।

धर्म की विभिन्नता के कारण मानव में ऊँच नीच अनुचित— इसी प्रकार धर्म की विभिन्नता के कारण मानवों में ऊँच नीच का विचार करना अनुचित है। व्यक्ति और विश्व के सम्बन्ध में मानव के हृदय में उठने वाले अनादि और संभवतः अंतहीन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में, महान विचारकों द्वारा अपने देश और युग की परिस्थितियों के अनुकूल दिए गए हैं, जो प्राचीन मतों के अनुयायियों द्वारा संगठित रूप से किये जाने वाले विरोध और नये विचार के अनुयायियों द्वारा किये गये त्याग और बलिदान के परिणामस्वरूप विशिष्ट धर्मों के रूप में व्यवस्थित हो गये। उन धर्मों के अंतर्गत जो मतभेद पैदा हुये, वे विभिन्न मतों और संप्रदायों के रूप में रह गये। जिस प्रकार प्रत्येक मानव दूसरे मानव से सामान्यतः एक सरीखा होने पर भी परिस्थितियों के कारण भिन्न है, उसी प्रकार धर्म और मत भी एक ही प्रकार की समस्याओं के उत्तर होने पर भी भिन्न भिन्न हो गये हैं, लेकिन इससे जिस प्रकार एक मानव को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार एक धर्म को दूसरे से हीन या श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि प्रत्येक धर्म का अनुयायी बाकी सभी धर्मों के अनुयायियों को नास्तिक, म्लेच्छ, मिथ्यादृष्टि, काफिर आदि कहते हैं, लेकिन चूँकि प्रत्येक धर्मावलम्बी प्रत्येक दूसरे धर्म को बुरा कहता है इस लिये सामान्य बुद्धि के न्याय से किसी को बुरा न कहना ही उचित है, और फिर यदि प्रत्येक धर्म को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जांय तो सब में अपनी परिस्थितियों की सीमा के अंतर्गत सत्य की शोध और अहिंसा या प्रेम का आग्रह ही मिलेगा, अतः उनमें आपस में द्वेष, विषमता या गर्व को स्थान ही नहीं है और इस कारण सामाजिक संगठन में हीनता-श्रेष्ठता की भावना अज्ञान की ही सूचक है, जिसे शिक्षण और विवेकबुद्धि से दूर किया जाना चाहिये।

धन और शिक्षण की विभिन्नता— और

है, क्योंकि बहुत अंश में यह न्यूनाधिकता समाज की पद्धति और परिस्थितियों के कारण होती है और किसी सहज अंश में व्यक्ति की स्वयं की बुद्धि की न्यूनाधिकता या अवसर के उपयोग और दुरुपयोग के कारण भी हो जाती है। करोड़पति बुद्धिमान बाप का मूर्ख बेटा भी करोड़पति बन जाता है, घुड़दौड़ या सट्टे में कोई भी व्यक्ति करोड़ कमा या खो सकता है। एक एम० ए० पास व्यक्ति भी सामान्य ज्ञान में शून्य, मूर्ख और अव्यवहारिक हो सकता है, और एक अपढ़ मामूली अन्त्यज सरल और प्रमाणशील नागरिक बन जाता है। अतः धन या विद्या को सामाजिक श्रेष्ठता हीनता का मापदण्ड नहीं माना जा सकता। जो स्वयं अपने प्रयत्न से धनवान बनते हैं या जिनकी बुद्धिमान होने की ख्याति दूर तक फैली हुई है, उन्होंने यह धन या ख्याति केवल अपने गुणों से कितनी प्राप्त की है, और केवल परिस्थिति वश कितनी मिल गई है, इसका हिसाब लगा सकना नामुमकिन है।

सब मानव सामाजिक दृष्टि से समान—इसका अर्थ यह है कि सर्वोदयी समाज-संगठन में जाति, पेशे, रंग, धर्म, धन, विद्या आदि के कारण कोई ऊंचा नीचा, छूत अछूत नहीं माना जा सकता; इनसे समाज के सदस्यों के अधिकारों और कर्तव्यों में कोई न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। *ये विभिन्नतायें रहें तब और सामाजिक विषमता को जन्म दें तो इन्हें* नहीं चलने दिया जा सकता, और ऐसे सामाजिक संगठन का विकास करने की आवश्यकता है, जिसमें ये भेद सामाजिक विषमता को पनपने न दे सकें। ऐसे सामाजिक संगठन का मापदंड लोकतन्त्र और मानवता होगी। लोकतन्त्र के अनुसार प्रत्येक मानव सामाजिक दृष्टि से, केवल मानव होने के नाते, समान और स्वतन्त्र माना जायगा और मानवता के नाते उसे दूसरे मानवों का सहयोगी और सहायक होना है। इन्हीं दो सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक संगठन में संशोधन और प्रगति होगी। शिक्षण और कानून निरंतर विकृति को दूर करने वाले और सही स्थिति को प्रोत्साहन देने वाले होंगे।

जान सकता है, उसके गुण दोषों, योग्यता आदि से सही और प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर सकता है और एक दूसरे को व्यवहारिक और प्रत्यक्ष सहयोग दे सकता है। ऐसी इकाई में ही सभी वयस्कों के सीधे मतदान से निर्वाचित गाँव-पंचायत या नगर-संस्था वास्तव में प्रतिनिधि संस्था हो सकती है और जनता का सही और सीधा प्रतिनिधित्व कर सकती है, उनकी भावनाओं और कमियों को समझ सकती है, उन्हें नेतृत्व प्रदान कर सकती है, उनकी भावनाओं का आदर कर सकती है और कमियों को दूर करने का स्वयं प्रयत्न कर सकती है या गाँव या नगर के नागरिकों को ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकती है।

गांव एक प्रजातन्त्र—गाँव के सामूहिक जीवन को लोकतांत्रिक आधार पर संगठित करने का यह भी अर्थ है कि वह अधिक से अधिक स्वावलंबी, स्वाधीन और शक्तिशाली हो। इसके लिए गाँव के आर्थिक और औद्योगिक जीवन को बाहर के परावलंबन से अधिकाधिक मुक्त और अपने सदस्यों को की दृष्टि से संगठित करना होगा। गाव-पंचायत न केवल गाँव के लोकतांत्रिक और सामूहिक जीवन की इकाई होगी बल्कि वह गांव के बाहर के दूसरे बड़े अंगों—जिलों, प्रान्तों या राज्य के बीच संबंध का माध्यम भी होगी।

जिलों और राष्ट्र का संगठन—सामूहिक जीवन की जो समस्याएं गांव के क्षेत्र और शक्ति से बाहर हैं और जो अनेक गांवों से संबंधित हैं उनके लिए जिले का या समान बोली अथवा सांस्कृतिक आधार पर नव-संगठित जनपदों का संगठन आवश्यक है। जिस प्रकार गांव की निर्माता इकाइयां परिवार हैं, उसी प्रकार जिलों या जनपदों की निर्माता इकाइयां गाव होंगी, जिनका प्रतिनिधित्व गांव-पंचायतों के मतों से निर्वाचित सदस्यों की जिला पंचायतें बनेंगी। जिला पंचायतें जिलों की आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं का हल जिले की समृद्धि की दृष्टि से करेंगी और गांवो के छोटे स्वार्थ जिले के बड़े हित में विलीन करने का प्रयत्न होगा ताकि उसके सामूहिक लाभ में प्रत्येक गांव अपना उचित भाग प्राप्त कर सके।

दसवाँ अध्याय

राजनैतिक सत्ता लोकतांत्रिक और विकेन्द्रित

सामान्यतः राजनैतिक व्यवस्था समाज-संगठन का ही एक भेद है, लेकिन चूंकि मानव समाज संगठन में राज्य को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है और आज वह निश्चय ही सबसे अधिक शक्तिशाली सामाजिक संगठन बन गया है, जिसकी सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है और जो अन्य राज्यों के मानवों के साथ संबंध रखने का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है तथा राज्यों के आपस के संबंधों पर ही आज युद्ध, शांति, व्यापार, उद्योग, सहयोग आदि निर्भर हैं, अतः किसी भी समाज और अर्थ-संगठन के विचार में राजनैतिक व्यवस्था का विचार अनिवार्यतः आवश्यक है।

जब हम सत्य और अहिंसा को मानव समाज के आधारभूत सिद्धान्त मानते हैं और लोकतंत्र और मानवता को समाज-संगठन के निश्चित माप-दंड, तो स्पष्ट है कि राजनैतिक व्यवस्था को भी इन्हीं से नापा जायगा। लोकतंत्र का सिद्धान्त राजनैतिक संगठन की आंतरिक व्यवस्था का आधार होगा, और मानवता राजनैतिक संगठन के अन्तर्गत मानवों के आपसी संबंधों, राज्यों के पारस्परिक संबंधों और विभिन्न राज्यों के मानवों के पारस्परिक व्यवहार के निश्चय का निर्णायक सिद्धांत होगा।

जान सकता है, उसके गुण दोषों, योग्यता आदि से सही और प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर सकता है और एक दूसरे को व्यवहारिक और प्रत्यक्ष सहयोग दे सकता है। ऐसी इकाई में ही सभी वयस्कों के सीधे मतदान से निर्वाचित गाँव-पंचायत या नगर-संस्था वास्तव में प्रतिनिधि संस्था हो सकती है और जनता का सही और सीधा प्रतिनिधित्व कर सकती है, उनकी भावनाओं और कमियों को समझ सकती है, उन्हें नेतृत्व प्रदान कर सकती है, उनकी भावनाओं का आदर कर सकती हैं और कमियों को दूर करने का स्वयं प्रयत्न कर सकती है या गाँव या नगर के नागरिकों को ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकती है।

गांव एक प्रजातन्त्र—गाँव के सामूहिक जीवन को लोकतान्त्रिक आधार पर संगठित करने का यह भी अर्थ है कि वह अधिक से अधिक स्वावलंबी, स्वाधीन और शक्तिशाली हो। इसके लिए गाँव के आर्थिक और औद्योगिक जीवन को बाहर के परावलंबन से अधिकाधिक मुक्त और अपने सदस्यों को की दृष्टि से संगठित करना होगा। गांव-पंचायत न केवल गाँव के लोकतांत्रिक और सामूहिक जीवन की इकाई होगी बल्कि वह गांव के बाहर के दूसरे बड़े अंगों—जिलों, प्रान्तों या राज्य के बीच संबंध का माध्यम भी होगी।

जिलों और राष्ट्र का संगठन—सामूहिक जीवन की जो समस्याएं गांव के क्षेत्र और शक्ति से बाहर हैं और जो अनेक गांवों से संबंधित हैं उनके लिए जिले का या समान बोली अथवा सांस्कृतिक आधार पर नव-संगठित जनपदों का संगठन आवश्यक है। जिस प्रकार गांव की निर्माता इकाइयां परिवार हैं, उसी प्रकार जिलों या जनपदों की निर्माता इकाइयां गांव होंगी, जिनका प्रतिनिधित्व गांव-पंचायतों के मतों से निर्वाचित सदस्यों की जिला पंचायतें बनेंगी। जिला पंचायतें जिलों की आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं का हल जिले की समृद्धि की दृष्टि से करेंगी और गांवों के छोटे स्वार्थ जिले के बड़े हित में विलीन करने का प्रयत्न होगा ताकि उसके सामूहिक लाभ में प्रत्येक गांव अपना उचित भाग प्राप्त कर सके।

अपने साथियों तथा दल द्वारा किये गये खर्च की पूर्ति करने में तथा सत्ता को हथियाने में लग जाते हैं—और वह जनता जिसने उन्हें चुना था वह कहां रह जाती है, इसका पता भी नहीं लगता। अतः यदि चुनाव को वास्तविक होना है तो सीधे वयस्क मताधिकार चुनाव उतने ही क्षेत्र में होने चाहिये, जितने क्षेत्र में मतदाता एक दूसरे को भली भांति व्यक्तिगत रूप से जानते हों, इसके आगे चुनाव अपरोक्ष ही रहने चाहियें। उम्मीदवार को स्वयं खड़े होने, अपने को नामजद करने या करवाने या अपना प्रचार स्वयं करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, छोटी और नीचे की सभाओं द्वारा चुने गये व्यक्ति उत्तरोत्तर ऊंची सभाओं में पहुँचने चाहियें। कार्यकारिणी के निर्माण के लिये इंगलैंड की केबिनट प्रणाली तथा अमेरिका की प्रेसीडेंट प्रणाली दोनों ही दूषित हैं, क्योंकि ये सत्ता के केन्द्रीकरण, दलबंदी की भावना और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देती हैं; इसके लिये स्विजरलैंड की कालिजियट प्रणाली ही उपादेय है। प्रत्येक निर्वाचन की अवस्था में प्रतिनिधियों को वापिस बुलाने का अधिकार निर्वाचन क्षेत्र

और यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में जैसे संहारक विश्वयुद्ध हुये हैं और आज भी जैसे विकट मानव संहार की तैयारियां दुनियां कर रही है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। आज मानव जितना तुच्छ और नगण्य मान जाता है, मानव जीवन की और मानवता की जितनी भयंकर अप्रतिष्ठा आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। अतः मानव की दृष्टि से, मानवता की दृष्टि से, उसकी समृद्धि और शांति की दृष्टि से—मानव के हित की किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, हम एक ही समाधार पर पहुँचते हैं और वह है सत्ता का विकेन्द्रीकरण, वह है सत्ता-स्रोत मानव तक, उसकी सबसे छोटी इकाई गाव तक पहुँचा देना, मानव को अपनी सत्ता का प्रत्यक्षतः और सही तरीके पर स्वामी बनने देना। उसे लोकतंत्र और मानवता के नाम से लुभा करके केन्द्रीय सत्ताधारी राष्ट्रीय राज्यों के द्वारा बलि का बकरा बनाने मे न लोकतंत्र की रक्षा हुई है और न मानवता की, और अगर अब भी मानव न चेते तो दोनों का विनाश निश्चित है।

वर्तमान पश्चिमी लोकतंत्र केवल तथाकथित—लोकतंत्र के इस लुभावने किन्तु गलत रूप का एक परिणाम है—बड़े राष्ट्रीय राज्यों का संगठन और उनके संचालन के लिए निश्चित बालिग मताधिकार, प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति। हजारों और लाखों की आबादियों के क्षेत्र और उनमें हजारों लाखों मतदाता और उनके सीधे मतदान पर चुने जाने वाले देश के किसी भी भाग में रखे जाने वाले नेतागण—जो विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों के रूप में चुनाव के लिए खड़े होते हैं, जिनकी विचार-धाराओं और चुनाव-घोषणा-पत्रों के अंतर को सामान्य मतदाता कभी समझ नहीं पाता और चुने हुये सत्ता-प्राप्त राजनैतिक दल उन घोषणाओं को वादों को न कभी पूरा करते हैं और न पूरा करने के इरादे से उन्हें करते हैं, फिर वे नेतागण स्वयं अपने आपको चुनाव के लिये खड़ा करते हैं, दल द्वारा अपने आपको पसंद किये जाने के लिये प्रयत्न करते हैं, दल-द्वारा स्वयं पसन्द किये जाने पर स्वयं जनता के सामने अपनी वकालत करते हैं और विज्ञापन तथा प्रचार के धुआंधार साधनों से मत प्राप्त करके चुन लिए जाते हैं और चुने जाने पर अपने और

जिलों के क्षेत्र के बाहर की तथा विभिन्न जिलों की समस्याओं का हल प्रांतीय सभाओं द्वारा होगा, जिनकी निर्माता इन्हीं जिला पंचायतें होंगी। उनके द्वारा निर्वाचित प्रान्तीय सभा प्रान्त के सामूहिक जीवन को व्यवस्थित और समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करेगी। इसी प्रकार प्रान्तीय सभाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों के द्वारा राष्ट्रीय संसद का निर्माण होगा, जो समग्र राष्ट्र की सामान्य समस्याओं का निर्णय राष्ट्रहित की दृष्टि से करेगी और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करेगी।

सत्ता का मूल स्रोत गांव—इस प्रकार के राज्य-संगठन में स्पष्टतः सत्ता का मूलभूत केन्द्र गांव होगा। वही सारी सत्ता का स्रोत होगा। गांव द्वारा कुछ निश्चित सामान्य सत्ता तथा कुछ निश्चित अधिकार जिलों को दिए जायेंगे, जिलों द्वारा कुछ निश्चित अधिकार प्रान्त को प्राप्त होंगे और प्रान्तों से कुछ निश्चित अधिकार केन्द्रीय शासन को दिए जायेंगे। इस प्रकार सारे अनिर्दिष्ट अधिकार गांवों को प्राप्त होंगे, बाकी ऊपर की सारी संस्थाओं को निर्दिष्ट और निश्चित अधिकार प्राप्त होंगे। इसका अर्थ यह है कि शक्ति और सत्ता का स्रोत गांव से केन्द्र की ओर चलेगा, न कि आज की तरह केन्द्र से गांव की ओर, जहां तक पहुँचते पहुँचते वह सारा स्रोत सूख ही जाता है और गांव-पंचायत या नगर-संस्था आज के लोकतंत्र सबसे अधिक अशक्त, निष्प्राण, निष्क्रिय और भूली संस्थाएं बन कर रह गई हैं। सत्ता का यह पुनर्संगठन लोकतंत्र की वास्तविकता के लिए, मानव और मानवता की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। गांवों और कस्बों के पुनर्जीवन और समृद्धि का अर्थ है राष्ट्र के सभी परिवारों और व्यक्तियों की समृद्धि, और यह सत्ता के विकेन्द्रीकरण से संभव है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण से ही गांवों और कस्बों का संगठन ...नत के आधार पर हो सकता है।

२ मानवता की प्रतिष्ठा विकेन्द्रीकरण में—

... की प्रतिष्ठा के लिये भी सत्ता का यह विकेन्द्री- ... । आज के राष्ट्रीय राज्यों में सत्ता का जैसा ... मानव इतिहास में शायद पहले कभी नहीं हुआ

और यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में जैसे संहारक विश्वयुद्ध हुये हैं और आज भी जैसे विकट मानव संहार की तैयारियां दुनियां कर रही है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। आज मानव जितना तुच्छ और नगण्य मान जाता है, मानव जीवन की और मानवता की जितनी भयंकर अप्रतिष्ठा आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। अतः मानव की दृष्टि से, मानवता की दृष्टि से, उसकी समृद्धि और शांति की दृष्टि से—मानव के हित की किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, हम एक ही समाधार पर पहुँचते हैं और वह है सत्ता का विकेन्द्रीकरण, वह है सत्ता-स्रोत मानव तक, उसकी सबसे छोटी इकाई गांव तक पहुँचा देना, मानव को अपनी सत्ता का प्रत्यक्षतः और सही तरीके पर स्वामी बनने देना। उसे लोकतंत्र और मानवता के नाम से लुभा करके केन्द्रीय सत्ताधारी राष्ट्रीय राज्यों के द्वारा बलि का बकरा बनाने से न लोकतंत्र की रक्षा हुई है और न मानवता की, और अगर अब भी मानव न चेते तो दोनों का विनाश निश्चित है।

वर्तमान पश्चिमी लोकतंत्र केवल तथाकथित—लोकतंत्र के इस लुभावने किन्तु गलत रूप का एक परिणाम है—बड़े राष्ट्रीय राज्यों का संगठन और उनके संचालन के लिए निश्चित बालिग मताधिकार, प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति। हजारों और लाखों की आबादियों के क्षेत्र और उनमें हजारों लाखों मतदाता और उनके सीधे मतदान पर चुने जाने वाले देश के किसी भी भाग में रखे जाने वाले नेतागण—जो विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों के रूप में चुनाव के लिए खड़े होते हैं, जिनकी विचार-धाराओं और चुनाव-घोषणा-पत्रों के अंतर को सामान्य मतदाता कभी समझ नहीं पाता और चुने हुये सत्ता-प्राप्त राजनैतिक दल उन घोषणाओं को वादों को न कभी पूरा करते हैं और न पूरा करने के इरादे से उन्हें करते हैं, फिर वे नेतागण स्वयं अपने आपको चुनाव के लिये खड़ा करते हैं, दल द्वारा अपने आपको पसंद किये जाने के लिये प्रयत्न करते हैं, दल-द्वारा स्वयं पसन्द किये जाने पर स्वयं जनता के सामने अपनी वकालत करते है और विज्ञापन तथा प्रचार के धुआंधार साधनों—से मत प्राप्त करके चुन लिए जाते हैं, और चुने जाने पर अपने

अपने साथियों तथा दल द्वारा किये गये खर्च की पूर्ति करने में तथा सत्ता को हथियाने में लग जाते हैं—और वह जनता जिसने उन्हें चुना था वह कहां रह जाती है, इसका पता भी नहीं लगता। अतः यदि चुनाव को वास्तविक होना है तो सीधे वयस्क मताधिकार चुनाव उतने ही क्षेत्र में होने चाहिये, जितने क्षेत्र में मतदाता एक दूसरे को भली भांति व्यक्तिगत रूप से जानते हों, इसके आगे चुनाव अपरोक्ष ही रहने चाहियें। उम्मीदवार को स्वयं खड़े होने, अपने को नामजद करने या करवाने या अपना प्रचार स्वयं करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, छोटी और नीचे की सभाओं द्वारा चुने गये व्यक्ति उत्तरोत्तर ऊंची सभाओं में पहुँचने चाहियें। कार्यकारिणी के निर्माण के लिये इंगलैंड की केबिनट प्रणाली तथा अमेरिका की प्रेसीडेंट प्रणाली दोनों ही दूषित हैं, क्योंकि ये सत्ता के केन्द्रीकरण, दलबंदी की भावना और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देती हैं; इसके लिये स्विट-जरलैन्ड की कालिजियट प्रणाली ही उपादेय है। प्रत्येक स्थिति और अवस्था में प्रतिनिधियों को वापिस बुलाने का अधिकार निर्वाचन क्षेत्र को अवश्य होना चाहिये।

न्याय सङ्गठन—आधुनिक राज्यों का न्याय विभाग भी अधिकतर अत्यत पेचीदा, लम्बे, व्यय-साध्य और अवास्तविक तरीके से केवल कानून देता है। यह आम जनता के लिये सिरदर्द बन गया है। कानूनों की अधिकता, उनकी पेचीदगी, न्यायाधीशों के निर्णय और वकीलों की बहस में बाल की खाल निकलती जाने के कारण आधुनिक न्याय प्रणाली इतनी दूषित हो गई है कि वह न्याय प्रदान करने के अनुपयुक्त बन गई है, वह अन्याय और शोषण का साधन बन गई है, अतः लोकतन्त्र और मानवता का घात करने वाली सिद्ध हुई है। इसकी सदोषता का एक बड़ा कारण केन्द्रित होना है और दूसरा कारण फीस लेकर वकालत करने वाले पेशेवरों का अस्तित्व है, जिनका पेशा ही तुरन्त और सस्ते न्याय के विपरीत रहना है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि शासन प्रणाली की भाँति न्याय प्रणाली भी विकेन्द्रित कर दी जाय और वह गाँव से केन्द्र की तरफ जाय। जनता के अधिक से अधिक मुकदमे गाँव

हो सकता है; लेकिन उसकी वास्तविक स्थिति को भुला करके कभी सही निर्णयों पर नहीं पहुँच सकते और कभी सही आयोजन नहीं कर सकते। उन्हें मानव को ही केन्द्र बिन्दु मानना होगा और सारे भौतिक साधनों को केवल उसके उपयोग और कल्याण के हथियार मात्र। उसी से उन्हें अपने सारे अध्ययनों, योजनाओं और निर्णयों को सम्बद्ध करना होगा और जो निर्णय उनके क्षेत्र के मानवों की वास्तविकता के साथ मेल खाने वाले नहीं होंगे, उनका उन्हें संशोधन करना होगा या छोड़ देना होगा। कोई भी सिद्धान्त और धारणा, कोई भी साधन और सम्पत्ति मानव से अधिक महत्वपूर्ण और मूल्यवान नहीं मानी जा सकती, बल्कि वही उनका वास्तविक मापदंड है।

केवल वर्तमान पीढ़ी का भी हित नहीं—यहाँ इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि जो भौतिक साधन मानव के लिये अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं, उनके उपयोग में मानव की वर्तमान पीढ़ी का ही नहीं बल्कि आनेवाली पीढ़ियों के हित का भी विचार करना चाहिये। इस दृष्टि से प्रकाश, हवा और जल मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक और बहुमूल्य साधन हैं, जो असीम मात्रा में प्राप्त हैं; उन्हें अगर कोई भी दूसरा राष्ट्र या मानव समूह किसी भी तरह जैसे अणु बम, कीटाणु बम आदि के द्वारा विषाक्त करने का प्रयत्न करे तो उसे समग्र मानव जाति का भयंकर अपराधी माना जाना चाहिये। इसके बाद भोजन, आवरण और आवास के भौतिक साधन हैं, जिनका सर्व-प्रथम उपयोग मानव के लिये होना चाहिये और यह इस प्रकार हो कि सबको एक निश्चित न्यूनतम स्तर पर तो प्राप्त हो ही सकें। इसी प्रकार खनिजों और जंगलों के उपयोग में केवल वर्तमान मानव जाति के उपयोग की ही नहीं, बल्कि भावी मानव जाति का भी ध्यान रक्खा जाना चाहिये।

कुछ भी हो, मुद्दे की बात यह है कि जहाँ भौतिक साधन सम्पत्ति और मानव में तुलना का प्रश्न हो, वहाँ बिना किसी हिचक के मानव को भौतिक साधन सम्पत्ति से अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। जहाँ भौतिक

ग्यारहवां अध्याय

मानव—सारी व्यवस्था का केन्द्र विन्दु

पश्चिमी सभ्यता का दृष्टिकोण—पश्चिमी सभ्यता ने न केवल व्यक्ति को भौतिक अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया है, बल्कि भौतिक साधनों को भी मानव से अधिक महत्वपूर्ण मान लिया है। आज भी भौतिक विज्ञानों के अध्ययन और शोध पर पश्चिमी सभ्यता ने जितना ध्यान दिया है और जितनी शक्ति लगाई है, उसके मुकाबिले में बहुत कम शक्ति सामाजिक और मानवीय विज्ञानों के अध्ययन और शोध में लगाई गई है। परिणाम यह हुआ है कि आज की पश्चिमी दुनियाँ *मानव को भी एक यन्त्र की भाँति मानने लगी है*, जिसकी आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति ठीक उसी तरह की जा सकती है, जिस प्रकार किसी कपड़े की मिल के तकुओं और करघों को उनके लिए उपयुक्त कच्चा माल या यन्त्रों के लिये चिकनाहट या शक्ति दी जाती है और उससे उनका संचालन और उत्पादन कार्य चालू रहता है।

यही नहीं, योरुप और अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय नियोजन की जो विराट योजनाएँ बनाई और पूरी की गई और उसी की देखा-देखी भारत में जो पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार किया गया है उसमें भी बहुत अधिक अंश में केवल भौतिक साधनों की वृद्धि का ही विचार किया गया। अमुक अमुक वस्तुओं का अमुक प्रतिशत उत्पादन बढ़ाया जाय—इसी आधार पर सारी योजनाएँ बनाई जाती हैं। यह सारा क्रम सारे अर्थपद्धति के क्रम को ही उलट देता है।

भौतिक साधन या मानव ?—वास्तव में तय करने की बात यह है कि हमारी सारी योजना में, सारे निर्माण कार्यक्रम में, सारी अर्थ-व्यवस्था में या यों कहें सारी सभ्यता के विचार में अधिक महत्वपूर्ण कौन

ग्यारहवाँ अध्याय

मानव—सारी व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु

पश्चिमी सभ्यता का दृष्टिकोण—पश्चिमी सभ्यता ने न केवल व्यक्ति की भौतिक अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया है, बल्कि भौतिक साधनों को भी मानव से अधिक महत्वपूर्ण मान लिया है। आज भी भौतिक विज्ञानों के अध्ययन और शोध पर पश्चिमी सभ्यता ने जितना ध्यान दिया है और जितनी शक्ति लगाई है, उसके मुकाबिले में बहुत कम शक्ति सामाजिक और मानवीय विज्ञानों के अध्ययन और शोध में लगाई गई है। परिणाम यह हुआ है कि आज की पश्चिमी दुनियाँ मानव को भी एक यन्त्र की भाँति मानने लगी है, जिसकी आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति ठीक उसी तरह की जा सकती है, जिस प्रकार किसी कपड़े की मिल के तकुओं और करघों को उनके लिए उपयुक्त कच्चा माल या यन्त्रों के लिये चिकनाहट या शक्ति दी जाती है और उससे उनका संचालन और उत्पादन कार्य चालू रहता है।

यही नहीं, योरुप और अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय नियोजन की जो विराट योजनाएँ बनाई और पूरी की गई और उसी की देखा-देखी भारत में जो पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार किया गया है उसमें भी बहुत अधिक अंश में केवल भौतिक साधनों की वृद्धि का ही विचार किया गया। अमुक अमुक वस्तुओं का अमुक प्रतिशत उत्पादन बढ़ाया जाय—इसी आधार पर सारी योजनाएँ बनाई जाती हैं। यह सारा क्रम सारी अर्थपद्धति के क्रम को ही उलट देता है।

भौतिक साधन या मानव ?—वास्तव में तय करने की बात यह है कि हमारी सारी योजना में, सारे निर्माण कार्यक्रम में, सारी अर्थव्यवस्था में या यों कहें सारी सभ्यता के विचार में अधिक महत्वपूर्ण कौन

प्रतिनिधि अपने गाँव के हित को जिले के हित में विलीन कर दें; इसी प्रकार अंतिम कड़ी में राज्यों के प्रतिनिधि अपने अलग-अलग छोटे छोटे राज्यों के संकुचित हितों को मानव जाति के हित में विलीन करके त्याग-भावना का परिचय दें तो राजनैतिक सङ्गठन ठीक तरीके पर चल सकते हैं और अपने आदर्श की ओर बढ़ सकते हैं। यह त्याग-भावना पश्चिमी समाज-सङ्गठन की भावना के बिल्कुल विपरीत है, जो व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति को ही समाज-सङ्गठन का कारण मानती है और लोकतंत्र को व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का साधन मान लेती है। चिंतन की इस मौलिक भूल ने पश्चिमी लोकतंत्र के वर्तमान रूप को जन्म दिया है, जो आधुनिक विश्व में सामूहिक शोषण का शायद सबसे बलवान और सबसे भयंकर साधन साबित हुआ है। इस विष का निराकरण मूलस्रोत से ही सम्भव है, जब शक्ति का विकेन्द्रीकरण लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किया जाय और त्याग-भावना को मानव के जीवन की मूलभूत प्रेरक शक्ति। इन्हीं की नींव पर सच्चे राजनैतिक सङ्गठन के भवन का निर्माण संभव है और ऐसे सङ्गठन के द्वारा ही सर्वोदय की प्राण-प्रतिष्ठा सम्भव है।

ग्यारहवाँ अध्याय

मानव—सारी व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु

पश्चिमी सभ्यता का दृष्टिकोण—पश्चिमी सभ्यता ने न केवल व्यक्ति को भौतिक अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया है, बल्कि भौतिक साधनों को भी मानव से अधिक महत्वपूर्ण मान लिया है। आज भी भौतिक विज्ञानों के अध्ययन और शोध पर पश्चिमी सभ्यता ने जितना ध्यान दिया है और जितनी शक्ति लगाई है, उसके मुकाबिले में बहुत कम शक्ति सामाजिक और मानवीय विज्ञानों के अध्ययन और शोध में लगाई गई है। परिणाम यह हुआ है कि आज की पश्चिमी दुनियाँ मानव को भी एक यन्त्र की भाँति मानने लगी है, जिसकी आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति ठीक उसी तरह की जा सकती है, जिस प्रकार किसी कपड़े की मिल के तकुओं और करघों को उनके लिए उपयुक्त कच्चा माल या यन्त्रों के लिये चिकनाहट या शक्ति दी जाती है और उससे उनका संचालन और उत्पादन कार्य चालू रहता है।

यही नहीं, योरुप और अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय नियोजन की जो विराट योजनाएँ बनाई और पूरी की गई और उसी की देखा-देखी भारत में जो पंचवर्षीय योजना का प्रारुप तैयार किया गया है उसमें भी बहुत अधिक अंश में केवल भौतिक साधनों की वृद्धि का ही विचार किया गया। अमुक अमुक वस्तुओं का अमुक प्रतिशत उत्पादन बढ़ाया जाय—इसी आधार पर सारी योजनाएँ बनाई जाती हैं। यह सारा क्रम सारी अर्थपद्धति के क्रम को ही उलट देता है।

भौतिक साधन या मानव ?—वास्तव में तय करने की बात यह है कि हमारी सारी योजना में, सारे निर्माण कार्यक्रम में, सारी अर्थ-व्यवस्था में या यों कहें सारी सभ्यता के विचार में अधिक महत्वपूर्ण कौन

है—भौतिक साधन या मानव ? इस प्रकार के सीधे प्रश्न का सभी पश्चिमी विद्वान और वैज्ञानिक एक ही उत्तर देंगे कि मानव अधिक महत्वपूर्ण है, लेकिन उनकी योजना और व्यवहार बिल्कुल इसके विपरीत होते हैं। वे केवल भौतिक साधनों के बारे में सोचते हैं, उन्हें सुधारने, बढ़ाने आदि की योजना बनाते हैं और मानव को बिल्कुल या तो भूल ही जाते हैं या उस सारी तस्वीर में बहुत नगण्य और तुच्छ स्थान देते हैं।

सही दृष्टिकोण—सही दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि हमारी सारी योजनाएँ सम्बन्धित गाँव, शहर, जिले, प्रान्त, राष्ट्र या भूखंड के मानवों को अधिक शिक्षित, अधिक सुखी और समृद्ध बनाने की होनी चाहिये। पहले यह तय करना है कि हमारे क्षेत्र के मानवों की क्या स्थिति इस समय है—भौतिक साधनों की दृष्टि से भी और सांस्कृतिक स्थिति की दृष्टि से भी—और हम उनके लिए क्या स्थिति चाहते हैं, उस स्थिति तक पहुँचाने के लिए हमें उन्हें क्या क्या सांस्कृतिक और भौतिक साधन प्रदान करने चाहिये और वे साधन किस प्रकार हमारे क्षेत्र की सारी जनता को प्राप्त हो सकते हैं। इस दृष्टि से सारी आर्थिक समस्याओं और योजनाओं पर विचार करना चाहिये। साधनों के शिकंजे में ठोक पीट कर आदमी को उसमें जमाने के बदले साधनों को मानवों की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि हमें भौतिक साधनों के उत्पादन और व्यय का आँकड़ा और लेखा-जोखा तैयार करने के पूर्व मानव शक्ति के उपयोग का बजट बनाना होगा और उसके अनुसार साधनों का बंटवारा करना होगा।

सच्चे अर्थशास्त्र का केन्द्र विन्दु—सच्चे अर्थशास्त्र में सारे विवेचन और विचार का केन्द्र विन्दु मानव होगा—अधूरा, अल्पशक्ति-युक्त या जैसा भी वह जिस क्षेत्र में विद्यमान है, अपनी सारी निर्बलताओं और विशेषताओं, अपनी आदतों, भावनाओं, अच्छाइयों और बुराइयों के साथ। उसे विशेषताओं, अच्छाइयों की ओर प्रेरित करना, अधिक सबल और अधिक विवेकयुक्त बनाना आयोजकों का आदर्श

हो सकता है; लेकिन उसकी वास्तविक स्थिति को भुला करके कभी सही निर्णयों पर नहीं पहुँच सकते और कभी सही आयोजन नहीं कर सकते। उन्हें मानव को ही केन्द्र बिन्दु मानना होगा और सारे भौतिक साधनों को केवल उसके उपयोग और कल्याण के हथियार मात्र। उसी से उन्हें अपने सारे अध्ययनों, योजनाओं और निर्णयों को सम्बद्ध करना होगा और जो निर्णय उनके क्षेत्र के मानवों की वास्तविकता के साथ मेल खाने वाले नहीं होंगे, उनका उन्हें संशोधन करना होगा या छोड़ देना होगा। कोई भी सिद्धान्त और धारणा, कोई भी साधन और सम्पत्ति मानव से अधिक महत्वपूर्ण और मूल्यवान नहीं मानी जा सकती, बल्कि वही उनका वास्तविक मापदंड है।

केवल वर्तमान पीढ़ी का भी हित नहीं—यहाँ इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि जो भौतिक साधन मानव के लिये अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं, उनके उपयोग में मानव की वर्तमान पीढ़ी का ही नहीं बल्कि आनेवाली पीढ़ियों के हित का भी विचार करना चाहिये। इस दृष्टि से प्रकाश, हवा और जल मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक और बहुमूल्य साधन हैं, जो असीम मात्रा में प्राप्त हैं; उन्हें अगर कोई भी दूसरा राष्ट्र या मानव समूह किसी भी तरह जैसे अणु बम, कीटाणु बम आदि के द्वारा विषाक्त करने का प्रयत्न करे तो उसे समग्र मानव जाति का भयंकर अपराधी माना जाना चाहिये। इसके बाद भोजन, आवरण और आवास के भौतिक साधन हैं, जिनका सर्व-प्रथम उपयोग मानव के लिये होना चाहिये और वह इस प्रकार हो कि सबको एक निश्चित न्यूनतम स्तर पर तो प्राप्त हो ही सकें। इसी प्रकार खनिजों और जंगलों के उपयोग में केवल वर्तमान मानव जाति के उपयोग की ही नहीं, बल्कि भावी मानव जाति का भी ध्यान रक्खा जाना चाहिये।

कुछ भी हो, मुद्दे की बात यह है कि जहाँ भौतिक साधन सम्पत्ति और मानव में तुलना का प्रश्न हो, वहाँ बिना किसी हिचक के मानव को भौतिक साधन सम्पत्ति से अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। जहाँ भौतिक

सम्पत्ति का अधिक महत्व है और मानव को एक घृणित कीड़े से अधिक नहीं माना जाता, वहाँ एक ओर समृद्धि का अम्बार और दूसरी ओर भूख का खड्ड नजर आता है, जहाँ सोने चाँदी के टुकड़ों और नोटों का मूल्य मानव जीवन से अधिक हो, वहां एक ओर भयानक अजीर्ण और दूसरी ओर भयंकर भुखमरी एक साथ दिखाई देती है। आज की आर्थिक पद्धति इस अभावता को प्रश्रय देती है; अतः आवश्यकता इस बात की है कि अर्थ व्यवस्था में मानवता की पुनः प्रतिष्ठा की जाय।

तीसरा खंड

बारहवाँ अध्याय

मानव-श्रम—वास्तविक संपत्ति तथा विनिमय का मापदन्ड

आज की दुनियाँ में हमें किसी भी व्यक्ति का परिचय प्राप्त करना या देना चाहते हैं तो हम यह पूछते और कहते हैं कि उसका पैसे में मूल्य कितना है, अर्थात् वह लखपति है या करोड़पति है, उसका वेतन सौ रुपया महीना है या हजार रुपया। और, जहाँ यह मालूम हुआ तो हमें पूरा सन्तोष और जानकारी हो जाती है, उसके बाद और कोई बात उसके बारे में जानने योग्य नहीं रहती। हम जान लेते हैं कि वह बड़ा आदमी है, मामूली आदमी है या छोटा आदमी। उसकी सारी योग्यता, सारे गुण, सारी क्षमता पैसे के परिमाण में ही निहित है—यह विश्वास आधुनिक समाज-संगठन ने हमारे चित्त में भली भाँति बैठा दिया है। इसी से हम यह निश्चय कर लेते हैं कि वह हमारे आदर का पात्र है, समान बर्ताव का पात्र है या कृपा अथवा उदासीनता या घृणा का पात्र है। हम यह जानने की आवश्यकता नहीं मानते कि उसका शिक्षण कितना है, उसकी नैतिकता कितनी है; उसका स्वास्थ्य और शरीर शक्ति कितनी है, उसमें शिष्टता और संस्कृति कितनी है, क्योंकि हमारी यह धारणा पक्की हो गई है कि उपरोक्त सभी बातें भी धन और आमदनी के अनुमान में ही बढ़ती और घटती हैं अथवा ये सारी बातें गौण और अप्रासंगिक है, इनसे व्यक्ति में कोई उल्लेखनीय या विचारणीय अन्तर नहीं पड़ता।

पैसे को माप-दण्ड बनाना गलत—यह स्थिति हमारे समाज की अस्वास्थ्यकर अथवा रोगपूर्ण स्थिति की द्योतक है। यदि समाज-संगठन को सन्तुलित और बलशाली रखना है तो इस एकांगिता को दूर करना होगा, अथवा जैसा आज हुआ है मानवता और लोकतन्त्र की भावना खोकर एक ओर मानव दानव हो जायगा और दूसरी ओर वह पशु बन कर रह जायगा। आज हमें पैसे को मनुष्य का मापदण्ड बनने से रोकना होगा और उसकी जगह दूसरी किसी चीज को मनुष्य का मापदण्ड बनाना होगा। वह मापदण्ड ऐसा हो जिससे मानव का शोषण न हो सके, बल्कि वर्तमान के शोषण का अन्त भी हो सके।

मानव का मूल्य मानव से हो—यदि हम जरा भी विचारपूर्वक अपने चारों ओर देखें तो हमें पता चलेगा कि इस दुनियाँ में मानव ने जो कुछ प्राप्त किया है, उसमें प्रकृति द्वारा दिए हुए साधनों का उपयोग अपने श्रम द्वारा करके ही प्राप्त किया है। जो कुछ आज हम अपने सामने देखते हैं, चाहे हम मानव की सांस्कृतिक निधि को लें—सारा साहित्य कला, विज्ञान, दर्शन का भण्डार जो आज के मानव के उत्तराधिकार में है—चाहे उसकी भौतिक निधि को लें, सारे खाद्य, वस्त्र, आवास, शहर, गाँव आवश्यकता, सुविधा और आराम की चीजें जिनसे मानव अपने को वैभवशाली मानता है, ये सब प्रकृति की निधियों पर मानव श्रम का व्यय होने से प्राप्त हुए हैं, अतः कोई भी वस्तु जो मानव की सारी कृतियों और प्राप्तियों में समान रूप से व्याप्त है वह मानव श्रम है। इसके विपरीत, कष्ट प्राप्त और अल्प प्राप्त चाँदी सोना जैसी धातुओं का मानव के उपयोग में कोई स्थान नहीं है, सारी आवश्यकताओं और सुविधा के साधनों में मानव श्रम लगने के बाद भी अतिरिक्त श्रम लगे तो इसे प्राप्त किया जा सकता है और इसका उपयोग आभूषण के अलावा और कुछ नहीं हो सकता और इनका स्थान तो मानव जीवन में अत्यन्त गौण है, तब मानव श्रम जैसे सर्व सामान्य और महत्वपूर्ण तथा उपयोगी पदार्थ को छोड़कर सोने चाँदी जैसे अनुपयोगी पदार्थ को मानव के

मूल्यांकन का साधन बनाना मानव जाति की भयंकर भूल ही हुई है, जिसे जल्दी से जल्दी सुधार लेने में ही मानव का कल्याण है।

अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण—यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्रियों ने सोने-चाँदी को या सोने चाँदी के सिक्कों को कभी मानव और मानव के कार्यों के मूल्यांकन का मापदन्ड नहीं बनाया बल्कि उन्होंने तो सोने-चाँदी आदि धातुओं के विशेष भौतिक गुण देखकर उन्हें केवल वस्तुओं के विनिमय का मापदण्ड ही स्थिर किया है; यह दूसरी बात है कि जनता ने प्रतीक को वास्तविक मान लिया और वास्तविक को भुला दिया।

हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सोना-चाँदी को पश्चिमी अर्थशास्त्रियों ने केवल विनिमय का मापदण्ड ही माना, उन्हें अपने आप में प्राप्ति और संग्रह का साधन नहीं समझा; व्यापारवादी अर्थशास्त्रियों का स्पष्ट ध्येय सोना-चांदी का भण्डार बढ़ाना था, और बाद में भी विदेशी व्यापार को बढ़ाना, उससे स्वर्ण प्राप्त करना या निर्यात-आयात का लाभप्रद संतुलन रखकर बदले में स्वर्ण एकत्रित करना—यह अर्थशास्त्रियों की नीति रही है और आज वहाँ के सबसे धनी, सबसे समृद्ध होने का सबसे बड़ा यही प्रमाण माना जाता है कि सारी दुनियाँ में प्राप्त स्वर्ण का अधिकांश भाग आज वहाँ के तहखानों में ही जमा है और अमेरिका का स्वर्ण डालर ही आज दुनियाँ पर, जो साम्यवादी ब्लाक में शामिल नहीं है, राज्य करता है। इस स्थिति को दूर करने के लिए सोने-चाँदी के इस आधिपत्य को इस आकर्षण को, इस जाल को ही खतम कराना, तोड़ फेंकना जरूरी है।

गलत उपयोग का परिणाम—साथ ही विनिमय के मापदण्ड के रूप में सोने-चाँदी को स्थान देना भी गलत ही हुआ है। इसीने मानव समाज में भ्रष्टाचार, बेईमानी और शोषण को चल दिया है। प्रकृति की समग्र निधियों को, मानव के सारे श्रम को, उसकी सारी भावनाओं को, उसके समग्र कौशल और बुद्धि को—सबको विनिमय-साध्य मान लिया गया और उनका मूल्य आँका गया और वह दिया गया, सोने चाँदी

के उन टुकड़ों द्वारा या कागजी नोटों द्वारा, जो उन सोने-चाँदी के टुकड़ों के प्रतिनिधि माने गये। इसके दो परिणाम हुये—एक तो यह कि मानव की भावनाओं, श्रम, बुद्धि और कौशल की कोई भी कद्र मानव के मन में नहीं रही; जिनके लिए उक्त भावनायें, श्रम, बुद्धि आदि का उपयोग किया गया, उन्होंने भी इनका वास्तविक मूल्य कुछ नहीं समझा। उन्होंने इन्हें सोने-चाँदी के टुकड़ों के बराबर समझा, जिनकी संख्या उन लेने वालों की कंगाली या संख्या के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी और जिन्होंने इन भावनाओं, कौशल परिश्रम आदि का उपयोग दूसरों के लिए किया, उनमें भी इससे त्याग और तपस्या के गौरव की भावना उत्पन्न नहीं हुई, न समाज-सेवा का सन्तोष उन्हें प्राप्त हुआ, बल्कि या तो उन्हें सबकी व्यर्थता और अल्प-मूल्यता प्रतीत हुई, या उनका मूल्य कुछ चाँदी के टुकड़े ज्ञात हुये या इन सबके बजाय चाँदी के टुकड़े ही अधिक कैसे प्राप्त किये जायँ, इसका प्रयत्न करना ही अधिक उपयोगी और आकर्षक लगा। इस प्रकार सभी के मन में एक ही प्रकार की आकांक्षायें हुई और वह यह कि जैसे भी हो इन सोने चाँदी के टुकड़ों को अधिकाधिक संख्या में प्राप्त करना ही सफलता और जीवन का लक्ष्य है; जिनके पास अधिक है, वे और भी अधिक प्राप्त करें क्योंकि इससे वे दुनियाँ को अपने वश में कर सकते हैं, इससे वे भौतिक और अभौतिक सभी वस्तुयें, सेवायें, भावनायें और गुण प्राप्त कर सकते हैं; जिनके पास कम है उन्हें तो अधिक प्राप्त करना ही चाहिये, क्योंकि सोने-चाँदी के टुकड़ों वाले ही दुनियाँ में अधिक सफल, अधिक सुखी अधिक समृद्ध और अधिक आदरणीय नजर आ रहे हैं।

सोने को छुट्टी दें—पैसे की इस मृग-मरीचिका ने समग्र मानव समाज को पागल बना दिया, वह केवल वस्तुओं के विनिमय का प्रतीक नहीं रहा, वह केवल लक्ष्मी का प्रतीक नहीं रहा, वह स्वयं ही लक्ष्मी बन [illegible]। अतः मानव जीवन के विविध अंगों को सही मूल्य देने के लिये, [illegible] की वस्तुओं, सेवाओं, भावनाओं, गुणों के सभी मूल्यांकन के [illegible] दुनियां की विविध वस्तुओं के विनिमय की दृष्टि से, सभी दृष्टि से

यह आवश्यक है कि सोने या चाँदी या इनके सिक्के या इनके प्रतिनिधि नोटों को वस्तु-विनिमय का मापदण्ड भी नहीं माना जाना चाहिये। इस काम से भी सोने चाँदी को छुट्टी दे देनी चाहिये। 'ता सोना को जारिये जासों फाटै कान।' वास्तव में यह सोना मानव का कान काटने वाला ही नहीं, उसकी नाक और हाथ पैर काटने वाला और दिलोदिमाग फाड डालने वाला भी साबित हुआ है, अतः इसे जला डालने में कोई भी हानि नहीं है।

विनिमय का माध्यम क्या हो?—अब प्रश्न यह है कि विनिमय का माध्यम सोने चाँदी के सिक्के के बजाय क्या हो? इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि मानव श्रम ही वस्तुओं के विनिमय का एक-मात्र मापदण्ड हो सकता है, क्योंकि वस्तुओं के उत्पादन और प्राप्ति में उसका उपयोग अनिवार्य है और उसी की न्यूनाधिकता से वस्तुओं का मूल्यांकन हो सकता है; क्योंकि प्रकृति की देन तो मानव के लिए अमूल्य है, वह श्रम के जरिए ही उस देन को अपनाकर अपने लिए उपयोगी बनाता है। अतः वस्तुओं के विनिमय का माध्यम श्रम से अधिक उपयुक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। मनुष्य को हवा और प्रकाश के अतिरिक्त जो कुछ चाहिये, उसके लिए श्रम लाजिमी है, जल के लिए, भोजन के लिये, निवास के लिये, ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सभी के लिए, श्रम आवश्यक है अतः श्रम से सारी वस्तुओं को नापा जाना ही न्यायपूर्ण और सही तरीका है, उसे ही काम में लाना चाहिये।

सोना क्यों नहीं!—यहां यह कहा जा सकता है कि सोने-चाँदी के मूल्य को ही यह क्यों न मान लिया जाय। एक ग्रेन सोने की वही कीमत है जो श्रम उसे निकालने में व्यक्ति का हुआ है और इस प्रकार उसे उक्त श्रम का प्रतीक क्यों न मान लिया जाय! पहली बात तो यह है कि आज के सोने-चांदी की वह कीमत कतई नहीं है जो आस्ट्रेलिया या अफ्रीका में एक श्रमिक को उक्त मात्रा के सोने को निकालने और साफ करने में मिलती है। उसमें अन्य बहुत से व्यय और कर शामिल हैं; और दूसरी बात यह कि सोने चांदी की खान खोदने और साफ करने का श्रम

सामान्य व सबकी समझ में आने लायक और सब के लिये उपयोगी नहीं है और फिर सोने चांदी का मूल्य और विनिमय का माध्यम मानने से जो हानियाँ हुई है; वे भी सामने हैं; ऐसी स्थिति में सोने चांदी, नोट का तो मूल्य और विनिमय के माध्यम से बहिष्कार ही कर दिया जाना चाहिये। और सामान्य मानव श्रम को ही इसके स्थान पर रखना चाहिये।

कौनसा श्रम माध्यम और मापदण्ड के रूप में हो, इस पर विस्तृत विचार और विवेचन किया जा सकता है, जो यहां सम्भव नहीं है। यहाँ तो केवल एक सुझाव ही रखा जा सकता है और वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये वस्त्र के रूप में आवश्यक सरल प्रक्रिया कताई के श्रम को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् निश्चित अंक की, *मान* लीजिये १० के अंक की, ६४० तार की (प्रति तार ४ फीट लम्बा) एक गुण्डी कातने का श्रम मापदंड माना जाय। यह माना जाय कि एक औसतन कुशल व्यक्ति दो घंटे में एक गुण्डी कात सकता है। एक कताई-श्रमिक का काम आठ घंटे के दिन का चार गुन्डी श्रम हुआ। आज की पैसे की परिभाषा में मान लीजिये यह आठ आना हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि आज आप जिस किसी वस्तु या सेवा का माप एक रुपया कहते हैं, उसका मूल्य इस नये सिक्के के अनुसार आठ गुन्डी-श्रम होगा।

बहुत बड़ा अंतर—आधुनिक अर्थशास्त्री कहेंगे कि इसमें विवाद का क्या प्रश्न है, हम जिसे एक रुपया कहना चाहते हैं, उसे आप आठ गुन्डी श्रम कह रहे हैं, कह लीजिये इसमें हमें क्या आपत्ति है; चाहे बोतल आप कोई भी रक्खें, जब तक शराब वही पुरानी चालू है, तब तक हमें कोई उज्र नहीं। लेकिन हमारा मानना है कि इसमें बहुत बड़े अन्तर का आरंभ है, इससे सारी दिशा और गति ही बदल जाती है। आज रुपया, पौंड डालर, अमुक परिमाण में, अमुक स्तर के सोने या चांदी के सिक्के के प्रतीक हैं, जो भारत इङ्गलैंड या अमेरिका के खजाने में सुरक्षित है, जब कि गुण्डी-श्रम सामान्य गाँव में रहने वाले कतवारी भाई या बहिन के श्रम का प्रतीक है, जो करोड़ों की संख्या में सारे देश में देश के गाँव गाँव में

फैले हुये हैं। हम अपनी सारी आवश्यकता और सुविधा की चीजों को उससे नापकर उसके साथ समरस होते हैं, उसमें सारे देशवासी शामिल होते हैं। गुण्डी का विचार करने से मनुष्य के सामने जो तस्वीर आती है, वह रिजर्व बैंक या सरकारी खजाने की पक्की दीवारों, लोहे की तिजोरियों, बन्दूकधारी पहरेदारों की सुरक्षा के अन्तर्गत रक्खे हुये सोना या चाँदी के सिक्कों या नोटों के बक्सों की नहीं होती, बल्कि हमारे ही जैसे हाड़-मांस वाले, गरीब ग्रामवासी की होती है, जो चरखे के सरल और सामान्य साधन के जरिये संभवतः अपने खेत में पैदा हुई रुई को कातता है, जो वस्त्र के रूप में हर एक देशवासी की लज्जा को ढकती है, उसे सर्दी से बचाती है, उसके हृदय और मस्तिष्क के निकटतम है, और उसकी निकटतम आवश्यकता की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप में करता है।

श्रम की प्रतिष्ठा—गुन्डी को विनिमय का माध्यम स्वीकार कर लेने से स्पष्ट है कि लोगों में इसके प्रचलन की शुरूआत होगी, अर्थात् लोग सामान की अदला-बदली में या सरकारी लगान आदि के रूप में गुन्डी दे सकेंगे, इनकी कताई स्वतः बढ़ेगी, उससे रुई के उत्पादन में स्वतः वृद्धि होगी और कपड़े की आवश्यकता की पूर्ति जनता स्वयं अपने श्रम से कर लेगी। इसका प्रभाव यह भी होगा कि लोगों में वस्तुओं का आदान प्रदान बढ़ेगा, आज जो गाँव गाँव और घर-घर में सोने-चांदी के सिक्कों का महत्व है, वह घट जायगा और श्रम तथा वस्तुओं का ही विनिमय होने की परम्परा बढ़ेगी। श्रम और वस्तुओं का संग्रह सोने-चांदी के सिक्कों की तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं किया जा सकता और उसमें यह भी सम्भावना नहीं कि सोने के सिक्कों या नोटों की गड्डियों के रूप में बहुत बड़ी धन-राशि का बहुत थोड़े स्थान में संग्रह हो सके, अतः आज की धन-लिप्सा में कमी होगी और दूसरों की विपत्ति में भी आज जिस प्रकार सोने-चाँदी का संग्रहकर्ता सोने-चांदी की तरह ही जड़ और उदासीन हो जाता है, उस समय नहीं हो सकेगा। श्रम की प्रतिष्ठा होने पर श्रम का शोषण भी नहीं

तेहरवाँ अध्याय

बौद्धिक श्रम केवल जनसेवा का साधन

आधुनिक पूँजीवादी अर्थशास्त्री भी मानव श्रम की महत्ता और उसकी नितांत आवश्यकता से इन्कार नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि मानव श्रम के बिना उत्पादन सम्भव ही नहीं है, और उनके सारे वैभव और विलास, चमक दमक और शोषण आखिर में तो मानव श्रम पर ही अवलंबित है, अतः वे भी मानव श्रम के गौरव के गीत गाते हुये नहीं थकते और इस गौरव-गान में किसी से पीछे नहीं रहना चाहते, लेकिन जिस प्रकार मकड़ी किसी जंतु को अपने जाल में फंसा लेने के बाद उसे अपने गान से मुग्ध करके जाल को कसती जाती है, उसके निकट पहुँचती जाती है और अन्त में उसे खतम ही कर डालती है, इसी प्रकार से पश्चिमी अर्थशास्त्री भी मानव श्रम के गौरव गान से आरम्भ करके तुरन्त ही मानव श्रम के दो भेद शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम कर डालते हैं और फिर बौद्धिक श्रम के मुआवजे को बढ़ाते-बढ़ाते शरीर-श्रम प्रतिफल को घटाते जाते हैं और इस प्रकार मानव श्रम के गीत गाकर भी श्रमिक को खतम नहीं तो अधमरा अवश्य ही कर डालते हैं।

इन विद्वान और चतुर अर्थशास्त्रियों की तर्क-प्रणाली बड़ी सुन्दर है। वे कहते हैं कि किसी भी उद्योग के सङ्गठन में प्राकृतिक साधन और श्रम करनेवाले मजदूरों की तो आवश्यकता है ही, लेकिन पैसेवाला —जिसने पहले मजदूरों के अतिरिक्त श्रम की लूट से वह पैसा जमा किया है—अपनी पूँजी लगाकर बड़े पैमाने पर प्राकृतिक साधन एकत्रित करता है, वह अथवा कुछ होशियार लोग उस उद्योग की व्यवस्था करते हैं, दूसरे होशियार लोग पहले से योजना बनाते हैं, पहले से उस वस्तु की माँग तैयार करते हैं, उसका प्रचार करते हैं, उसे यथोचित स्थान पर

और कला का अध्ययन या प्रसार, जन-शिक्षण आदि सभी सार्वजनिक कार्य शामिल हैं, जिनमें उनकी रुचि हो या जिनमें राष्ट्र या पंचायत को उनकी आवश्यकता हो। जिस समाज में लगभग सारे नागरिक शरीर-श्रम से अपना भरण पोषण करेंगे और वे ही नागरिक फिर बिना वेतन लिये शासन करेंगे, शिक्षा देंगे, न्याय करेंगे, वकालत करेंगे, जिस समाज में पूरा समय देकर वेतन प्राप्त करनेवाले सामाजिक सेवा करनेवालों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जायगी; जिस समाज में व्यापार व्यक्तिगत मुनाफे का काम न रहकर यातायात, पुलिस या सेना की भाँति सामाजिक सेवा कार्य ही रह जायगा, वहाँ समाज शोषण-हीन हो सकेगा और उसी समाज में सबके उदय के, सबकी समृद्धि के साधन सबको प्राप्त होंगे।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था की नींव प्रत्येक योग्य और वयस्क नागरिक द्वारा अपने शरीर-श्रम से अपने भरण पोषण की प्राप्ति है, आज का तथाकथित बौद्धिक श्रम श्रम नहीं है बल्कि एक जाल है, धोखा है, जिसे खतम कर देना चाहिये। बुद्धि को जन-सेवा का साधन ही रखना चाहिये; जहाँ उसे अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन बनने दिया कि वह भ्रष्ट हो जाती है और समाज को नष्ट कर डालती है।

चौदहवाँ अध्याय

यन्त्र केवल मानव के लिये

जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ और पशु तथा भाप की ताकत से चलनेवाली ऐसी मशीनें बनीं जिनसे मजदूरों की रोजी छिनी और वे बेकार हो गये तो वहाँ के अनेक स्थानों की जनता इन मशीनों के विरुद्ध हो गई, लोगों ने नये कारखानों पर हमले किए और मशीनों को तोड़ डाला। इङ्गलैन्ड के बेरोजगार कारीगर और उनसे सहानुभूति रखनेवाली सामान्य जनता वहाँ बारबार यही करती और सरकार के दमनकारी कानूनों तथा पुलिस फौज के जुल्म के बावजूद यही करती, अगर वहाँ बाहर के देशों से लाये हुए अमित धन के परिणामस्वरूप इतनी बड़ी संख्या में और इतने विविध प्रकार के कारखाने न खुल जाते जिनमें सबको काम मिल जाता, यदि इन कारखानों को सारी दुनियाँ में नहीं तो कम से कम सारे ब्रिटिश साम्राज्य में अपने माल को धोखे से जबरदस्ती से बेचने की सुविधा न मिलती और साथ में इंगलैंड के लाखों लोगों को देश के बाहर अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका में बसने की और ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में शासक बनकर जाने के अवसर न मिल जाते। यह कहना वास्तविकता से बहुत दूर न होगा कि इंगलैंड के औद्योगीकरण और यन्त्रीकरण की सफलता का श्रेय औद्योगिक क्रांति को कम और वहाँ बढ़ते हुए साम्राज्य और शोषण को अधिक था।

अब यदि भारत जैसा विशाल आबादी का देश जिसके पास न इंगलैंड की भाँति कोई साम्राज्य है, बल्कि जो स्वयं साम्राज्यवाद के पंजे से छूटा है और दुनियाँ में साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा शत्रु होने की इच्छा रखता है, न अमेरिका आस्ट्रेलिया और रूस की तरह जिसके पास

असीम अविकसित भूप्रदेश तथा भौतिक साधन हैं और न दक्षिण अफ्रीका की भाँति जहाँ मुट्ठी भर गोरे अपने से कई गुने रंगीन मानवों का शोषण करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान बैठे हैं, वहाँ मजदूरों को कम करने वाले बड़े पैमाने के यंत्रोद्योगों द्वारा देश के उद्योगीकरण करने पर विरोध की आवाज उठे, उसे देश के लिए अनुचित कहा जाय तो यह गैरवाजिब नहीं है। पश्चिम के अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह विरोध अनुचित नहीं है, क्योंकि यहाँ उस तरह के यंत्रीकरण की सफलता के लिये कोई भी साधन न तो मौजूद हैं और न प्राप्त किये जा सकते हैं।

यन्त्र मात्र का विरोध नहीं—यह स्पष्ट कह देना आवश्यक है कि यन्त्र मात्र का ही विरोध सर्वोदय अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक और अनिवार्य नहीं है। मानव शरीर से बढ़कर नाजुक और जटिल दूसरा यन्त्र क्या होगा! वनस्पति, जन्तु, पशु और पक्षी जगत् जिस जटिल पद्धति और क्रम के अनुसार बनता, बिगड़ता और चलता रहता है, उसका मुकाबला कौनसा मानव-निर्मित यंत्र कभी कर सकेगा! और फिर हल, रहट, चर्खा, गाड़ी आदि सभी यंत्र ही तो हैं, जिन्हें हम कभी नहीं छोड़ सकते और जो सहस्राब्दियों से हमारे साथी हैं।

यन्त्र और मानव का सम्बन्ध—लोकतन्त्र की दृष्टि से यन्त्र की मर्यादा यह है कि यन्त्र का उपयोग वहीं तक उचित है, जहाँ तक वह मनुष्य का दास बना रहे; जहाँ वह मनुष्य का मालिक बनने लगे, वहीं यंत्र का बलपूर्वक विरोध करना आवश्यक और उचित हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे यन्त्र जिन्हें उपयोग करने वाले स्वयं सुधार सकें, जिनके हिस्सों को आसानी से वहीं उसी गाँव या कस्बे में बनाया जा सके, जिन यंत्रों को स्वयं उसी क्षेत्र में बनाया जा सके, जिन यंत्रों को काम में लेने में हम लोग अपनी स्वतन्त्रता नहीं खोते, हम यन्त्रों के अधीन नहीं होते, बल्कि अपनी इच्छानुसार उन यन्त्रों का उपयोग कर सकते हैं, बना सकते हैं, सुधार सकते हैं, उन यन्त्रों को काम में लाए जाने में कोई हर्ज नहीं है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वे यन्त्र इतने

जटिल और व्यय-साध्य न हों कि उन्हें हमारे परिवार अपने साधनों से न खरीद सकें, उन्हें अगर कुछ धनिक-वर्ग ही खरीदकर स्वयं काम में ले सकें तो समाज में विषमता बढ़ेगी और वे स्वयं खरीदकर आम जनता को किराये पर उपयोग के लिये दें तो उसमें आम जनता का परा-वलंबन बढ़ेगा, जो लोकतन्त्र की दृष्टि से हानिकारक होगा। अतः वे सरल और सादे यन्त्र जिन्हें आम जनता समझ सके और काम में ले सके, जो यहीं बन सकें और सरलता से सुधारे जा सकें और जो आम जनता की पहुँच के बाहर न हों, काम में लिये जांय। उनमें किसी की कोई हानि नहीं है, बल्कि सभी का कुछ न कुछ लाभ है, यदि मानवता की दृष्टि से भी वे खरे उतरते हों।

यन्त्र किस प्रकार के ?—मानवता की दृष्टि का अर्थ यह है कि हमें ऐसे ही यन्त्र काम में लेने हैं जो हमारे देश के लोगों का रोजगार छीन कर उन्हें भूखों न मारते हों। हमारे देश में प्रश्न श्रम बचाने का नहीं है, बल्कि रोजगार देने का है। जिन देशों में आबादी कम है और साधन अधिक हैं, वहाँ अगर लोग श्रम बचाने वाले यन्त्रों से काम लें तो समझ में आ सकता है, लेकिन जहाँ आबादी बहुत अधिक है वहाँ श्रम बचाने वाले यन्त्रों का उपयोग आत्मघाती और मानवता के विपरीत ही माना जायगा। कपड़े की एक मिल खोलकर लाखों कतवारी और हजारों बुनकरों के मुख का ग्रास छीन लेना भयानक नरमेध से कम नहीं है, जिसमें हजारों लोगों को सिसक सिसक प्राण देने पर या आधे पेट भूखे रहकर जीने पर मजबूर किया जाता है, और अगर वे भूखे कतवारी और बुनकर अपने अभाव को प्रगट करने के लिए विरोधी प्रदर्शन करते हैं तो सुरक्षा और शान्ति की दावेदार सरकार उन भूखों को गोली और कैद का शिकार बनाती है और यांत्रिक उद्योगवाद देश की समृद्धि के बहाने सरकार की छत्रछाया में अपने शोषण के यन्त्र को और अधिक कस कर जनता के रक्तपान द्वारा अपनी तृप्ति करता है।

हो सकता है हमें ऐसे यन्त्रों की आवश्यकता पड़े जो आम जनता की शक्ति से बाहर हों, और फिर भी देश के लिए उनकी जरूरत हो,

उदाहरण के लिए ऐसे बुलडोजर और ट्रैक्टर जिनके बिना कड़ी और नई जमीन को तोड़ना असाध्य या अतीव कष्टसाध्य है, अथवा खान खोदने के ऐसे यन्त्र जो मनुष्य की प्राणों की जोखिम को कम कर देने वाले हों या बहुत कड़े परिश्रम को हल्का कर देने वाले हों, तो ऐसे यंत्रों की मिल्कियत सरकार की या पंचायतों की होनी चाहिये, जो या तो स्वयं सरकारी और पंचायती उद्योगों में उनका उपयोग करे और उनसे होनेवाला लाभ सामूहिक रूप में जनता को प्राप्त होनेवाली सुविधा के रूप में बंट जाय या जो आम जनता को निश्चित पारिश्रमिक पर प्राप्त हो सके। किसी भी अवस्था में परिवारों की निजी रूप से मिल्कियत नहीं होनी चाहिये, ताकि उनसे विषमता और प्रतिद्वन्दिता को सिर उठाने का मौका न मिल सके। अगर ऐसा हुआ वो उससे लोकतन्त्र और मानवता दोनों को आघात पहुँचेगा।

यन्त्र कहाँ तक ?—सर्वोदय अर्थव्यवस्था को यन्त्र के नाम से ही कोई विरोध या चिढ़ नहीं है, लेकिन साथ ही यन्त्र के नाम से ही उसे कोई आकर्षण और प्रसन्नता भी नहीं है। वह यन्त्रीकरण को सुख और समृद्धि का पर्यायवाची नहीं मानती। यन्त्र का वह उपयोग कर सकती है, लेकिन उसे मानव का दास बनाकर रक्खेगी, उसे मानव का मालिक   । वह उसका उपयोग उसी सीमा तक करेगी जहाँ तक मनुष्यों की स्वतन्त्रता में उससे बाधा नहीं आती और जहाँ तक वे मनुष्यों में भुखमरी, वेकारी और विषमता को पनपने देने में सहायक नहीं बनते।

पन्द्रहवाँ अध्याय

मूलभूत उद्योग विकेन्द्रित तथा निजी

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति का विकास समाज में ही सम्भव है, लेकिन यह भी निःसन्देह है कि समाज के अधिकार और शक्ति की वृद्धि मानव स्वातन्त्र्य के क्षेत्र को संकुचित करके उसके विकास में बाधक होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था विषम साधनों से युक्त मानवों को स्वतन्त्रता प्रदान करती है, उसका परिणाम यह होता है कि साधन-युक्त को लूटने की स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है और समाज के अधिकांश लोग अधिकाधिक शोषित, गरीब और दुखी हो जाते हैं; साम्यवादी अर्थव्यवस्था सारे साधन समाज के प्रतीक के रूप में सरकार को सौंप देती है और परिणामतः समाज के सभी सदस्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता और व्यक्तित्व के विकास की अनुभूति करने के बजाय राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सभी क्षेत्रों में केवल सरकार के हाथ में कठपुतली रह जाते हैं। यदि व्यक्ति और समाज दोनों का समन्वय करना है और समाज को केवल व्यक्तित्व के विकास का साधनमात्र रखना है—जैसा वास्तव में वह है—तो इस बात की आवश्यकता है कि व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का क्षेत्र अक्षुण्ण रहे, वह अपने विचारों की स्वतन्त्रता-पूर्वक अभिव्यक्ति कर सके, उसे समाज के निर्देशों से, यदि वे उसे अनुचित लगें तो उसे अहिंसात्मक रूप में स्वयं कष्ट सहकर, आन्दोलन करके अपनी असहमति प्रकट करने की सुविधा रहे, ऐसा करना असम्भव न हो जाय, अर्थात् लोकतन्त्र वास्तविक, विकेन्द्रात्मक और प्रभावपूर्ण रहे, केवल एक दिखावा, शास्त्रीय विचार या कानूनी परिभाषा ही न रह जाय।

पारिवारिक इकाई और उद्योग कायम रहे—यह तभी सम्भव है जब समाज व्यवस्था में पारिवारिक इकाई कायम रहे और परिवार की आरम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परावलंबी न रहना पड़े। इसका अर्थ यह हुआ कि भोजन, वस्त्र और आश्रय सम्बन्धी उद्योग धन्धे निजी हों और परिवारों के आधार पर अर्थात् विकेन्द्रित हों; खेती, चक्की, चूल्हा, घाणी, ढेंकी, चर्खा, कर्घा, कुम्हारी, लुहारी, खातीगीरी आदि के धन्धे इस श्रेणी में आते हैं। अर्थव्यवस्था ऐसी हो जिसमें समाज का प्रायः प्रत्येक परिवार इन धन्धों में से एक या अधिक धन्धों को अवश्य ही अपना सके, परिणामतः प्रत्येक परिवार शारीरिक परिश्रम का आदी होगा, उत्पादक परिश्रम करने वाला होगा, शरीर-श्रम को हेय मानने वाला या शरीर-श्रम करने वालों का शोषक तो कभी नहीं होगा।

इन धन्धों के निजी और विकेन्द्रित रखने का परिणाम यह होगा कि भारत जैसे विशाल आबादी के देश में भी बेकारी और बेरोज़गारी का प्रश्न खड़ा नहीं होगा, अपने अपने प्रादेशिक क्षेत्र की आबादी का प्रश्न वे क्षेत्र स्वयं हल कर लेंगे और इन धन्धों में जो सुधार स्थानीय आवश्यकताओं की दृष्टि से आवश्यक होंगे, वे समाज की सहायता से हो सकेंगे, साथ ही भूमि के संतुलित वितरण की समस्या भी स्थानीय क्षेत्र समय समय पर हल करते रहेंगे, इस अवस्था में मूलभूत विचार यह होगा कि हवा, जल आदि की भांति जमीन, पहाड़, पशु आदि जो कुछ भी प्राकृतिक साधन हैं तथा औजार आदि जो भौतिक साधन हैं वे सब ईश्वरीय या सामाजिक सम्पत्ति हैं; मानव का अपना केवल शरीर श्रम है, जिसके जरिये वह इनका उपयोग अपने तथा सब समाज के लिए कर सकता है, जब कोई परिवार इनका उपयोग नहीं कर सकेगा तो वे समाज को लौटा दिये जायंगे और जो इनका उपयोग कर सकेगा उसे प्राप्त हो जायंगे, यह दृष्टि शिक्षण और वातावरण, कानून और परंपरा के जरिये कायम रहेगी तथा इन उद्योगों के निजी रहने पर भी ये दूसरों के शोषण के साधन नहीं बनेंगे।

आत्म-निर्भर प्रादेशिक इकाइयां—मूलभूत आवश्यकताओं के

सम्बन्ध में गाँव, कस्बा या गाँवों के समूह को ऐसी प्रादेशिक इकाई के रूप में संगठित करना जो इस सम्बन्ध में यथा सम्भव अधिक से अधिक आत्म-निर्भर हो, सर्वोदय अर्थव्यवस्था का एक मौलिक सिद्धान्त है, अतः उक्त प्रादेशिक इकाई की सारी आबादी की वे जरूरतें पूरी होती रहें—यह देखना और उसकी व्यवस्था करते रहना प्रादेशिक पंचायत या ऐसे ही समाज-संगठन का कर्त्तव्य होगा। प्रत्येक वयस्क को रोजगार हो, प्रत्येक अल्प-वयस्क को शिक्षण तथा भरण-पोषण मिले, प्रत्येक वृद्ध और अशक्त को संरक्षण मिले, यह देखना समाज का कर्त्तव्य रहेगा तो यह प्रयत्न कि मैं अधिक से अधिक परिश्रम किये बिना अपना भरण-पोषण प्राप्त न करूं-- समाज से कम से कम लूं और अधिक से अधिक दूं व्यक्ति का रहेगा। दूसरे के लिए अधिक से अधिक त्याग—और अपने लिए बिना परिश्रम के प्राप्त सुविधा की अनिच्छा—इसी आधार पर मूलभूत उद्योगों का निजी संगठन होगा।

जड़ तथा अरुचिपूर्ण एकरूपता अनावश्यक—इन उद्योगों के निजी पैमाने पर संगठित होने का एक परिणाम यह भी होगा कि आज के अत्यन्त पूंजीवादी तथा साम्यवादी देशों में जो खाने पहनने और रहने में जड़ तथा अरुचिपूर्ण एकरूपता होती जा रही है, वह नहीं रहेगी; सारे देश के लोग बड़े कारखानों में बने हुए एक जैसे बिस्कुट तथा डिब्बों के फल, मिठाई आदि खाते हैं, मिलों में बहुत बड़ी तादाद में बने हुए ही नहीं, बल्कि कटे हुए और सिले हुए कपड़े, जूते आदि पहनते हैं, एकसी लम्बाई-चौड़ाई, शक्ल सूरत, सजावट के घरों में रहते हैं, इसे उन्नति समझते हैं; इनमें भौतिक साधनों को मानवों की इच्छा और रुचि के अनुकूल नहीं बनाया जाता, बल्कि मानव को ठोकपीटकर उन साधनों में फिट करने की कोशिश की जाती है, यहां आदमी के कद के माफिक कोट नहीं बनाया जाता, बल्कि अंग्रेजों की प्रसिद्ध कहावत के अनुसार कपड़े के माफिक कोट तैयार किया जाता है और आदमी को उसमें ठूंसा जाता है; यही बात सांस्कृतिक विकास के बारे में भी है, इस क्षेत्र में भी फैक्टरी के माल की तरह जड़ एकरूपता लाने की को[illegible]ी जाती है।

सृजनात्मक आनन्द की अनुभूति—इसके विपरीत मूलभूत उद्योगों के निजी और विकेन्द्रित रहने पर न केवल लोगों को अपने उपयोग की चीजों में, अपनी रुचि और सृजनात्मक शक्ति से काम लेने और उसे विकसित करने का अवसर मिलेगा और इससे उन्हें अपने आत्म-संतोष की प्राप्ति होगी, बल्कि उनका परिश्रम बड़े कारखानों के काम की तरह अरुचिकर और थका डालनेवाला नहीं होगा, बल्कि उसमें उनका व्यक्तित्व प्रदर्शित होगा, जो उस परिश्रम को गौरवपूर्ण, आनंद-दायक और रुचिपूर्ण बना देगा; इन दोनों में उतना ही अन्तर होगा, जितना विलायती बिस्कुट के टीन को खोलकर सामने रख देने और सुगृहिणी द्वारा खाने वाले की रुचि के अनुसार बनाये गये ताजा और गर्म भोजन को तुरन्त परोसने में होता है।

आज की परिस्थितियों में अत्यन्त अनुकूल—एक बात और भी है; आज की दुनिया में जब पूंजीवादी और साम्यवादी समाज तथा अर्थव्यवस्थाओं में, जो विभिन्न राष्ट्रों में चालू है, इतना भयंकर विरोध है कि वे एक दूसरे के सर्वनाश पर उतारू हैं और वे विज्ञान का भयानक से भयानक और पाशविक उपयोग से भी चूकने वाली नहीं है तो सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था का जो मानव समाज की मूलभूत आवश्यकताओं के उद्योगों को अधिक से अधिक बिखरे हुए और छोटे पैमाने पर गाँव गाँव और घर घर में फैले हुए रखना चाहती है, विशेष उपयोग है; क्योंकि इसी तरीके से मानव जाति द्वारा अन्याय के प्रतिरोध को कायम रक्खा जा सकता है, मानव जाति को बचाया जा सकता है, मानव संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की जा सकती है, और कोई उपाय अंधे और शक्तिवान् पागलों की इस दुनियाँ में बचाव का नहीं है।

सोलहवाँ अध्याय

बड़े तथा यंत्रित उद्योग राष्ट्रीय अथवा पंचायती हों

माना जायगा, बल्कि सारे समाज के सदस्यों के जीवन-स्तर और आजीविका का ध्यान रखते हुए तथा सामाजिक विषमता व एकाधिकार की बुराई से बचते हुए इनके क्षेत्र का निर्धारण होगा।

सुरक्षा संबन्धी उद्योग—इनमें विशेषकर दो कोटि के उद्योग होंगे- एक तो वे उद्योग, जिन्हें आवश्यक बुराई के रूप में ही सही, निकट भविष्य की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण कायम रखना जरूरी है। यद्यपि इसमें शक नहीं कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था इस प्रकार की विदेश नीति को जन्म देगी जो किसी बाहर के देश पर आक्रमण करने की विरोधी होगी और जिससे किसी भी बाहर के देश को भयभीत या आशङ्कित होने का कोई कारण नहीं होगा, क्योंकि जो राष्ट्र अपने देशवासियों में से सब तरह के शोषण और अन्याय को खतम कर देने को कृतसंकल्प होगा और जो इस नीति को सामाजिक और व्यक्तिगत क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से कार्यरूप में परिणित करेगा, वह विदेशी राजनीति और विदेशी व्यापार में ऐसी कोई नीति नहीं अपनायेगा जो दूसरे देशों का शोषण करनेवाली हो और उन्हें हानि पहुँचाने वाली हो, और साथ ही देश में भी केन्द्रित और यंत्रित उद्योग धन्धों की अत्यधिक कमी, सारे मूलभूत धंधों के विकेन्द्रित रहने और आम जनता की एक सरीखी-सी आर्थिक स्थिति रहने के कारण ऐसी परिस्थितयां नहीं होंगी, जिनसे ललचाकर दूसरे देश इस पर आक्रमण करने को तैयार हों। फिर भी यह बिल्कुल संभव है कि जिस प्रकार रूस के साम्यवादी प्रयोग को इस तरह से असफल करने के पूँजीवादी राष्ट्र प्रयत्नशील रहे, यद्यपि इससे उनका कोई सीधा लाभ नहीं था, उसी प्रकार कुछ राष्ट्र या कोई राष्ट्र इस प्रयोग को खतम करने के लिए इस देश पर आक्रमण कर सकता है और जब तक यह प्रयोग पूरी तरह चालू हो और सारी जनता पूरी तरह शिक्षित हो, तब तक राष्ट्र को सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना होगा और उसके लिए न्यूनतम आवश्यक बड़े पैमाने के केन्द्रित युद्ध संबन्धी धंधे भी रखने होंगे।

इन उद्योगों में सैनिक सुरक्षा संबन्धी

उद्योग शामिल हैं। इस प्रकार के उद्योगों को सर्वदा अद्यतन और परिणामतः सतत परिवर्तित, यन्त्रित और बड़े पैमाने में रखना होगा। ये सभी उद्योग निश्चित रूप से वैयक्तिक नहीं रहने दिए जा सकते, क्योंकि युद्ध सम्बन्धी उद्योग धंधों का किसी भी रूप में व्यक्तिगत मुनाफे के साधन रहना—चाहे वह सार्वजनिक सीमित कम्पनी के रूप में ही सही-अतीव अनुचित है। उन्हें तो सरकारी उद्योगों के रूप में ही चलाया जाना आवश्यक है। उनमें किसी भी प्रकार के स्थिर स्वार्थ परोक्ष रूप में भी विकसित नहीं होने देने चाहिये, अन्यथा अतर्राष्ट्रीय शांति के प्रयत्न कभी सफल नहीं हो पायेंगे और विश्व-शांति केवल भोले लोगों को भुलाने और मूर्ख बनाने का नारा रह जायगा और युद्ध अथवा शांति का निर्णय आम जनता अथवा उसके प्रतिनिधि रूप में सरकार का न रहकर उन उद्योगों के संचालकों और मालिकों का हो जायगा, जिन्हें युद्ध से लाभ हो सकता है और शांति से लाभ में कमी आ सकती है।

जन-सुविधा सम्बन्धी उद्योग—दूसरे उद्योग यातायात संबंधी हैं, जिनमें रेल, जल नौका, हवाई जहाज, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि हैं; इनके निर्माण और संचालन संबन्धी सारे उद्योगों का भी निजी रहना अत्यन्त हानिकारक है, क्योंकि ये उद्योग विशाल पैमाने के और इसलिए केन्द्रित भी रहेंगे। लेकिन इनका संबन्ध सामान्य स्थिति में आम जनता की सुरक्षा से इतना नहीं है, जितना इसकी सुख सुविधा से, इसलिये यह क्षेत्र निजी उद्योगों का न रहे यह तो ठीक है, लेकिन यह भी विचारणीय है कि इन्हें पूर्णतया सरकारी बनाकर सरकारों के हाथ में अनावश्यक तौर पर शक्ति का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र और जन-सुविधा की दृष्टि से उचित होगा या नहीं। हमारा मानना है कि इस तरह के उद्योगों का संचालन अर्द्ध स्वतन्त्र कारपोरेशनों के जरिये किया जाना चाहिये, जिन्हें सरकार द्वारा निश्चित पूँजी दे दी जाय और जिनकी व्यवस्था सीधे सरकार के हाथ में न रहकर, सरकार, उद्योग के कर्मचारियों और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की सम्मिलित कारपोरेशनों के जरिये ताकि इसमें सरकार की नीति का प्रतिबिम्ब तो आ सके

लेकिन संचालन अधिक से अधिक मितव्ययिता, कुशलता और जन-सुविधा की दृष्टि से किया जाय और उत्पादकों तथा उपयोक्ताओं दोनों का दृष्टिकोण प्रभावपूर्ण हो सके।

शोषण के साधन नहीं---देश की समृद्धि और अंतर्राष्ट्रीय शांति सङ्गठन के साथ साथ प्रथम कोटि के उद्योगों का क्षेत्र धीरे धीरे सीमित होता जायगा और दूसरी कोटि के उद्योग अपेक्षाकृत बढ़ते जायंगे और उनसे प्राप्त होने वाली सुख-सुविधायें आम जनता में फैलती जायंगी तथा उनके उपयोग का क्षेत्र उत्तरोत्तर विकसित होता जायगा। चूंकि ये सारे उद्योग निजी लाभ की दृष्टि से नहीं चलाये जायंगे, इसलिए ये शोषण के साधन नहीं बन पायेंगे, इन्हें देश के अधिक से अधिक योग्य और कार्य-कुशल व्यक्ति चलायेंगे, इसलिए उनका संचालन योग्यता पूर्वक और कुशलता से होगा और चूंकि समाज-हित के उद्देश्य से चलाये जायंगे, इसलिए ये अपने आप में स्वयं साध्य न बनकर आम जनता के कल्याण के साधन-मात्र होंगे, जो सारी समाज-व्यवस्था में अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर लेंगे।

इन बड़े उद्योगों में निश्चय ही सभी कर्मचारियों और अधिकारियों को निश्चित वेतन दिये जायंगे, जो राष्ट्र द्वारा निश्चित सामान या सेवा के कूपनों या विनिमय-पत्रकों के रूप में हो सकते हैं, जिनका उपयोग निश्चित अवधि के अंतर्गत किया जा सकता है, लेकिन जिनका चिरकालीन संग्रह असम्भव होगा। नीचे से नीचे और ऊंचे से ऊंचे अथवा कम से कम और अधिक से अधिक योग्य अधिकारियों के वेतनों के अंतर को उत्तरोत्तर कम करना होगा। भविष्य में यह क्या रूप ग्रहण करेगा, यह आज कह सकना कठिन है, लेकिन आज की स्थिति में अनुमान करें तो यह अनुपात सौ [illegible] । कम और पांच सौ से ज्यादा नहीं होना चाहिये; और प्रथम सौ को बढ़ाने का और पांच सौ को घटाने का [illegible], ताकि समानता की ओर [illegible] हो सके।

चूंकि समाज का आर्थिक सङ्गठन हरेक बालिग को रोजगार प्राप्त होने और हरेक नाबालिग के पालन और शिक्षण तथा प्रत्येक वृद्ध और अपाहिज के भरण-पोषण प्राप्त करने के आधार पर निर्मित होगा और हरेक नागरिक शिक्षा और वातावरण दोनों के द्वारा एक दूसरे की सहायता और सहयोग, त्याग तथा बलिदान की भावना से प्रेरित होगा, अतः ये केन्द्रित और संचित उद्योग भी आज की भांति शक्ति और सत्ता के केन्द्रीकरण और शोषण के स्रोत नहीं रहेंगे, बल्कि आम जनता की सुख-सुविधा और समृद्धि के साधन बनेंगे।

आदर्श उद्योग-व्यवस्था—इस प्रकार मूलभूत उद्योग धंधों को विकेन्द्रित और निजी रखने और रहने देने और बड़े तथा यांत्रिक उद्योगों को केन्द्रित और राष्ट्रीय या पंचायती रखने से इस प्रकार की उद्योग-व्यवस्था संभव है, जिससे लोकतंत्र और मानवता की रक्षा हो जाय और साथ ही छोटे धंधों और बड़े धंधों के लाभ तो प्राप्त हो सकें किन्तु उनकी खराबियों से भी बचा जा सके। इस प्रकार की उद्योग-व्यवस्था समस्त मानव जाति के लिए आदर्श और अनुकरणीय होगी—इसमें शक नहीं; और अगर एक राष्ट्र उसे यहाँ सफलता-पूर्वक चालू करके दिखा सकता है तो सारी दुनियां निश्चय ही उसे अपनाने को उत्सुक होगी। भारत और चीन जैसे विराट आबादी, प्राचीन दार्शनिक तथा नैतिक परम्परा और संस्कृति तथा विकेन्द्रित उद्योग धंधों के देश ही इसे अपना कर दुनिया के सामने उदाहरण रख सकते हैं। चीन ने साम्यवादी विचारधारा को अपना कर अपने नव-निर्माण का पथ पकड़ा है; अब तो भारत पर ही इस बात की जिम्मेदारी है कि वह सर्वोदय विचार धारा के अनुसार नव निर्माण का उदाहरण विश्व के सामने रक्खे। गांधी जी जैसे सर्वोदय विचारक और प्रयोगकर्ता का भारत में प्रादुर्भाव क्या इसी की बलवती संकेत नहीं है?

सतरहवाँ अध्याय

व्यापार स्वार्थ-सिद्धि का साधन न हो

व्यापार का पूंजीवादी सिद्धान्त—सस्ते से सस्ता खरीदना और मंहगे से मंहगा बेचना—यह आधुनिक पूँजीवादी अर्थशास्त्र के अनुसार व्यापार का आधारभूत नियम है। जो भी सामान या सेवा जिसे भी खरीदनी हो, वह उसे सस्ती से सस्ती खरीदने का प्रयत्न करे--यह स्वाभाविक और उचित माना जाता है, अतः जिस प्रदेश में भी वह सस्ती से सस्ती मिल सके और जिस व्यक्ति से भी वह सस्ती से सस्ती मिल सके, वहीं से खरीदना उसका कर्तव्य है; दूसरी ओर किसी को कोई वस्तु बेचनी हो, तो जिस व्यक्ति को और जिस प्रदेश में वह उसे मंहगी से मंहगी बेच सके, वहीं बेचना चाहिये। यह नियम सामान और सेवाओं की अदला-बदली या सिक्के के जरिये उनका क्रय-विक्रय अर्थात् व्यापार में इतना मूलभूत और स्वयं-सिद्ध माना जाता है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कोई इसकी अवहेलना करने की सोचता ही नहीं, और जो ऐसा करता है वह या तो भूल या अज्ञान से ऐसा करता है या उसे विक्षिप्त माना जाता है। इस सस्ते से सस्ते खरीदने और मंहगे से मंहगे बेचने के काम जो पेशे के रूप में करते हैं, उन्हें व्यापारी कहा जाता है और इन दोनों कामों के बीच जो अन्तर रहता है उसे व्यापारिक मुनाफा कहा जाता है; और चूँकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अधिकतर व्यक्तिगत मुनाफे के व्यक्तिगत उपयोग की व्यवस्था है, अतः व्यापार इस अर्थव्यवस्था का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है और व्यापारी इस पूँजीवादी समाज-संगठन का प्रमुख और संभवतः सबसे प्रभावशाली अंग।

मूल्य का माँग और पूर्ति द्वारा निर्णय अवैज्ञानिक—'सस्ते से सस्ते खरीदने और मंहगे से मंहगे बेचने' की इस पद्धति को वै-

तथा उचित सिद्ध करने के लिए पूंजीवादी अर्थशास्त्र ने इसे एक दूसरे सिद्धांत पर आधारित किया है। उन्होंने यह निश्चय किया है कि वस्तुओं का मूल्य 'पूर्ति तथा माँग' के संतुलन से निर्धारित होता है। इस तरह यह सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि मनुष्य के श्रम का कोई मूल्य नहीं है। अगर उसके श्रम से उत्पादित वस्तु या सेवा का कोई ग्राहक है तो उसका प्रतिफल उसे मिलेगा, अन्यथा नहीं मिलेगा; और जो प्रतिफल मिलेगा वह उसके श्रम के अनुपात में नहीं, बल्कि खरीददारों की संख्या और आवश्यकता के अनुपात में होगा। स्पष्ट ही यह सिद्धान्त अन्यायपूर्ण और झूठा है, क्योंकि बिना श्रम के किसी वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता या कोई सेवा नहीं दी जा सकती; और जो वस्तु का उत्पादक या सेवा को देने वाला है उसके श्रम करने में जो शक्ति लगी है, कम से कम उसके फलस्वरूप उत्पन्न आवश्यकताओं की पूर्ति उस वस्तु या सेवा के बदले में उसे मिलनी ही चाहिये।

जो सिद्धान्त उत्पादक के कार्य और सेवा में उसके श्रम और आवश्यकता का विचार नहीं करता, बल्कि उपयोक्ता की आवश्यकता का ही विचार करता है, वह निश्चय ही अनुचित और निन्दनीय है। कम से कम उसे वैज्ञानिक तो हर्गिज नहीं कहा जा सकता और सभ्य मानव समाज में उसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

व्यापार का स्वरूप—सामान्य बुद्धि से भी मान्य और उचित तो यह लगेगा कि मानव—चाहे उसे गाँव की प्रादेशिक इकाई की दृष्टि से देखा जाय या परिवार के रूप में सामाजिक इकाई के रूप में देखा जाय—अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ और सेवाएं स्वयं प्रस्तुत करे और इनका उपयोग करे; इस प्रकार दूसरी इकाइयों की आवश्यकताओं पर निर्भर रहने की आवश्यकता कम रहे और अगर रहे भी तो वह वही सेवा या वस्तु दूसरों को दे, जो उसके उपयोग के अतिरिक्त या अधिक हो या बच रहे ... अतिरिक्त वस्तु या सेवा का ही दान देना

लेकिन मानव समाज संगठन आज इतने प्रारम्भिक रूप में नहीं रहा है या रह पाया है, बल्कि इतना जटिल हो गया है कि कोई भी पारिवारिक इकाई या प्रादेशिक इकाई अपने आप में स्वयं पूर्ण नहीं रही है और किसी भी प्रादेशिक इकाई में भी आखिर वस्तुओं और सेवा का आदान-प्रदान तो आवश्यक होगा ही, और जहाँ वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान है वहाँ व्यापार मौजूद है ही। अतः व्यापार अपने आप में न अप्राकृतिक है और न अनुचित, बल्कि मानव समाज संगठन की एक स्वाभाविक और आवश्यक प्रक्रिया है।

वर्तमान व्यापार-पद्धति शोषण और अन्यायपूर्ण—लेकिन पूंजीवादी समाज-संगठन में व्यापार शोषण और अन्याय का प्रतीक बन गया है, उसके अनेक कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि इस संगठन में परिवारों और व्यक्तियों के कामों का विशेषीकरण (Specialization) बहुत अधिक कर दिया गया है। पारिवारिक इकाइयाँ या प्रादेशिक इकाइयाँ अपनी आवश्यकता की सभी या अधिकाँश वस्तुएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करतीं और न आवश्यकता मानती हैं, बल्कि एक प्रकार की सेवा या एक प्रकार की वस्तु या वस्तु के अंश के उत्पादन में ही सारी शक्ति लगा देती हैं और परिणाम-स्वरूप उन्हें अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुओं या सेवाओं को प्राप्त करने के लिये व्यापारी पर निर्भर हो जाना पड़ता है, और जो समाज जितना परावलम्बी हो उसे उतना ही प्रगतिशील माना जाता है।

व्यापार निजी लाभ का क्षेत्र क्यों?—दूसरी बात यह है कि व्यापार को समाज-सेवा न मानकर उसे निजी लाभ का क्षेत्र माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं के क्रय और विक्रय में जो अंतर होता है, उस पर व्यापारी का निजी अधिकार माना जाता है, और उसे उसकी अपनी कमाई या मुनाफा समझा जाता है, जिसे वह वस्तु और सेवाएँ बेचने वालों की अधिक से अधिक और खरीदने वालों की कम से कम आवश्यकता के अवसर पर उपयोग कर सकता है और वह शोषण तथा अपने लाभ के क्षेत्र को विस्तृत करता जाता है और फलतः वह विश्व-

व्यापी बन जाता है। इस निजी लाभ और शोषण को कायम रखने में उसे धर्म, देशभक्ति, समाज-सेवा, जनहित आदि अनेक सामाजिक गुणों का सहारा मिल जाता है।

पूंजीवादी व्यापार, बनावटी स्थिति का परिणाम—तीसरी बात यह है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन का आधार उपयोग नहीं होता, लोग अधिकतम उपयोग की वस्तु उत्पादन नहीं करना चाहते, बल्कि अधिक से अधिक मांग की चीज पैदा करना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पहले चीज पैदा कर लेते हैं, फिर बाजार ढूँढते हैं और बाजार व्यापारी के हाथ में होता है; अतः व्यापारी के पंजे में पहुँच जाते हैं। इसलिए प्रत्येक उद्योग और प्रत्येक व्यापार वास्तविक उत्पादन और वास्तविक क्रय-विक्रय पर आधारित न रह कर भावी उत्पादन और भावी विक्रय अर्थात् सट्टे पर आधारित हो गया है, जिसमें बड़ी पूंजीवाला व्यापारी सारी अर्थव्यवस्था को अपने स्वार्थ-साधन में लगाता है। इसी सट्टे की पद्धति ने उधार की जटिल व्यवस्था को जन्म दिया है और यह सट्टे को बढ़ाती जाती है, इससे वास्तविक उत्पादन और उपयोग गौण हो जाते हैं और संभावित उत्पादन और उपयोग ही सारे उद्योगों, व्यापारों, उत्पादन और उपयोग पर हावी हो जाते हैं और परिणामतः आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था सट्टे की अर्थव्यवस्था बन जाती है; और सटोरिया सारे समाज का शोषक बन बैठता है, वही उद्योगपति के रूप में उत्पादक बन जाता है, वही धनी और संभ्रान्त नागरिक के रूप में उपयोक्ता बन जाता है, वही इन दोनों के बीच की कड़ी व्यापारी बन जाता है। वही राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में प्रेरक संचालक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार समाज का केन्द्र उसके हाथ में केन्द्रित हो जाता है, समाज का सबसे बड़ा अनुत्पादक और सबसे बड़ा शोषक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समाज का नेतृत्व करता है।

शुद्ध व्यापार में सट्टे की गुंजाइश नहीं—यदि हमें इस शोषण का अन्त करना है और समाज में न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था कायम करना

प्रादेशिक इकाइयों का आंतरिक व्यापार निजी रहे—इस स्थिति में वाजिब यह होगा कि गाँव या कस्बे के आन्तरिक व्यापार—वस्तुओं के आदान-प्रदान—की छूट नागरिकों को रहे। इस प्रकार गाँव या कस्बे में बहुत छोटे व्यापारियों और कारीगरों को अपना पेशा करने में कोई अड़चन नहीं आयेगी। एक तरफ तेली, लुहार, चमार, खाती आदि अपना काम करते रहेंगे और गाँव वालों की आवश्यक सेवाओं और वस्तुओं की पूर्ति करते रहेंगे। दूसरी तरफ पसारी, तमोली, बिसाती आदि छोटे व्यापारी जो गाँव या कस्बे की चीजें खरीदकर गाँव या कस्बे में बेचते हैं, उन्हें भी गाँव या कस्बे में खरीदने-बेचने की स्वतन्त्रता रहेगी। इससे एक ओर गाँव और कस्बे वालों की मूलभूत आवश्यकताओं की अपने क्षेत्र के अन्दर पूर्ति में कोई असुविधा नहीं होगी, उन्हें बाहर की किसी संस्था पर उनके लिए अवलम्बित नहीं रहना पड़ेगा और न मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में सरकार या बाहर की किसी संस्था के हाथ में यह शक्ति केन्द्रित होगी जो उनके जीवन को परावलम्बी बना सके और उनकी स्वतन्त्रता और उनके विकास में बाधा डाल सके। साथ ही दूसरी तरफ गाँव या कस्बे वालों को आज की तरह मुनाफाखोरी, स्वार्थ-साधन और सट्टे की प्रवृत्ति से बचाने के लिये यह आवश्यक होगा कि गाँव या कस्बे के बाहर माल भेजने और बाहर का माल मगाने का अधिकार किसी व्यापारी या औद्योगिक को व्यक्तिगत रूप से नहीं होगा। यह कार्य समाज को ही करना होगा।

अन्तर्प्रादेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पंचायती या राष्ट्रीय—छोटे गाँवों और कस्बों में, मान लीजिये पाँच हजार से नीचे तक की इकाइयों में, यह काम गाँव-पंचायतों की व्यापार समिति को करना होगा जो इस काम के लिए एक सरकारी संस्था के रूप में संगठित होगी। इसमें इकाई के उत्पादक, व्यापारी और उपभोक्ता तीनों के प्रतिनिधि, तथा सरकार के प्रतिनिधि के रूप में गाँव-पंचायत के प्रतिनिधि भी शामिल होंगे। यह व्यापार समिति गाँव के अतिरिक्त माल को बाहर भेजने और आवश्यक तथा सुविधा की चीजों को बाहर से मंगाने और

भिजवाने की व्यवस्था करेगी; खरीदी और बेची वस्तुओं का मूल्य
करेगी और गाँव के छोटे व्यापारियों के जरिये या सीधे गाँव वालों
बेचने की व्यवस्था करेगी। इस कार्य में जो भी बचत होगी, वह गाँव
कस्बे की सार्वजनिक सुविधा के काम में खर्च की जायगी और इस प्रक
गाँव-पंचायत वास्तव में गाँव के सामूहिक और सार्वजनिक जीवन
केन्द्र बन जायगी और गाँव वालों की समृद्धि, संपन्नता, कार्यकुशलत
और दूरदर्शिता का स्वयं ही मापदंड हो जायगी।

बड़े कस्बों और शहरों में, जिनकी संख्या उत्तरोत्तर घटती जानी चाहिये,
यह व्यापार सहकारिता के आधार पर संगठित व्यापार मंडलों द्वारा किया
जायगा और इसमें उत्पादकों, उपयोक्ताओं, छोटे व्यापारियों और म्युनि-
सिपल कौंसिलों के प्रतिनिधि शामिल होंगे। इनके अलावा जिलों, प्रान्तों
और केन्द्र की व्यापार-समितियाँ भी होंगी, जिनका काम नीति निर्देशन
होगा, जो क्रमशः अंतर्प्रादेशिक, अंतर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की
आवश्यकताओं, समस्याओं और कठिनाइयों पर विचार करेंगी। इनमें
एक तरफ नीचे की संस्थाओं के प्रतिनिधि शामिल होंगे, तो दूसरी तरफ
ऊपर के सरकारी संगठनों और व्यापार-सङ्गठनों के संचालक भी शामिल
होंगे। इस प्रकार जिला व्यापार मंडलों का मार्ग-निर्देश प्रान्तीय सरकार
के प्रतिनिधि करेंगे, जो प्रादेशिक व्यापार-समितियों की कठिनाइयों को
हल भी करेंगे, और प्रान्तीय सरकार का दृष्टिकोण भी समझायेंगे तो
प्रान्तीय व्यापार मंडलों को केन्द्रीय सरकार का दृष्टिकोण जानने और
केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय मंडलों के दृष्टिकोण को समझने का मौका
मिलेगा। केन्द्रीय व्यापार मंडल एक तरफ प्रान्तीय इकाइयों की आवश्य-
कताओं और कठिनाइयों को समझेगा, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और
संगठनों के दृष्टिकोण और परिस्थिति को भी सामने रक्खेगा और इस
तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति इस देश में क्या रहेगी—इसका निर्णय
करेगा। इस प्रकार गाँव से केन्द्र तक और केन्द्र से गाँव तक आवश्यकताओं
और कठिनाइयों तथा साधनों और पूर्ति का समन्वय हो सकेगा और

मिलजुल कर नीति का निर्धारण और उसका कार्यरूप में परिवर्तन सहयोग-पूर्वक किया जा सकेगा।

व्यापार अधिकांश में समाज-सेवा—इस प्रकार की व्यवस्था में बड़े व्यापारियों की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं होगी। वे समाज की कठिनाइयों और अभावों से खिलवाड़ कर, सट्टा कर अपना घर नहीं भर सकेंगे। इसमें मुनाफाखोरी को कोई स्थान नहीं रहेगा। सारा बड़ा व्यापार सहकारी आधार पर सङ्गठित होगा और उससे प्राप्त लाभ अपनी-अपनी इकाई के सार्वजनिक लाभ में व्यय होगा, और समाज की प्रतिष्ठा उत्पादक को प्राप्त होगी, वही उसका नेतृत्व करेगा। आज की तरह सटोरिये को यह प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। साथ ही इन सहकारी मण्डलों की शक्ति इतनी नहीं बढ़ने दी जायगी कि वे प्रत्येक नागरिक को मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के बारे में भी परावलम्बी करके पंगु बना दें और इस प्रकार स्वतंत्र जीवन और अहिंसक प्रतिरोध की सम्भावना ही खतम हो जाय और सरकार या कोई भी सङ्गठन अत्यधिक शक्तिशाली होकर अधिनायक बन जाय। इस लिये मूल आवश्यकताओं की पूर्ति में गांव या कस्बे यथासम्भव अधिक से अधिक आत्मनिर्भर होंगे; और साथ ही वे आंतरिक क्रय-विक्रय में भी स्वतंत्र होंगे, और बहुत छोटे व्यवसायियों की स्वतन्त्र सत्ता और स्थिति भी कायम रहेगी। उन्हें अपने रोजगार के साधन भी प्राप्त रहेंगे, लेकिन अन्तर्प्रादेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय आयात-निर्यात जो आधुनिक व्यापार का मुख्य रूप है, सरकारी और राष्ट्रीय होगा और वह समाज-सेवा का ही साधन रहेगा, न कि आज कि तरह निजी लाभ और स्वार्थ-सिद्धि का जरिया।

अठारहवाँ अध्याय

काम और आराम—समान तथा सहयोगी

काम अरुचिकर भारपूर्ण क्यों ?—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने यंत्र और शक्ति के उपयोग से तथा काम को बड़े पैमाने पर कारखानों में सङ्गठित करके अत्यन्त अरुचिकर और भारपूर्ण बना दिया है। कारखानों का शहरों में कम से कम स्थान में केन्द्रीकरण, कोयले, भाप आदि के अत्यधिक उपयोग, शहरों में आबादी के केन्द्रीकरण, मजदूरों की गरीब और बदसूरत बस्तियाँ—इन सबसे उत्पन्न गन्दा और दम घोंटने वाला वातावरण—इन सबके अतिरिक्त कारखाने के अन्दर एक ही तरह के या एक ही क्रिया के दुहराने का आठ घंटे तक काम और वह भी भीमकाय यंत्रों की दिमाग और दिल पर हथौड़े की तरह लगातार चोटें पहुँचाने वाली खटखट—इन सबने काम को एक अत्यन्त अरुचिकर मजबूरी बना दिया है; इसकी अवधि जितनी कम से कम की जा सके और इससे जितना दूर हटा जा सके, उतना ही सुखकर है।

काम के इस अस्वाभाविक, असुन्दर, अरुचिकर और अस्वास्थ्यकर किन्तु अनिवार्यतः आवश्यक रूप ने उसे अत्यन्त भयानक और घृणित बना दिया है। काम के प्रति यह भय पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही अर्थव्यवस्थाओं में इसलिये मौजूद हैं कि दोनों ही यन्त्रीकरण की समर्थक और पोषक हैं—यद्यपि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मुकाबले में साम्यवादी अर्थव्यवस्था में यह भय इसलिये कम है कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था में इससे होने वाले लाभ का अपेक्षाकृत बहुत अधिक अंश काम करनेवालों को सुख-सुविधा के रूप में प्राप्त हो जाता है।

विश्राम ही आदर्श ?—काम के प्रति यह अरुचि और मजबूरी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में केवल कारखानों में काम करने वालों तक ही

सीमित नहीं रही है, बल्कि यहाँ से आरम्भ होकर सारे समाज में व्याप्त हो गई है। इसी के परिणाम-स्वरूप दैनिक काम के घंटों में यथासंभव अधिक से अधिक कमी, सप्ताह के अंत में डेढ़ या दो दिन का अवकाश, वर्ष में एक, डेढ़ या दो मास का अवकाश—काम से बिल्कुल छुट्टी, काम को भूलने के लिये काम की जगह से दूर से दूर भागने का प्रयत्न—संक्षेप में काम नहीं बल्कि विश्राम ही प्रगति, सभ्यता और समृद्धि का चिन्ह माना जाने लगा है। और इससे अगला कदम यह है कि जो व्यक्ति काम कम से कम करे या बिल्कुल ही न करे—उसे काम करनेवालों से अधिक सुखी, अधिक भाग्यवान और इसलिये आदर्श तथा अनुकरणीय माना जाता है।

यह स्थिति शोषण का परिणाम—स्पष्ट है कि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था, चाहे वह पूँजीवादी हो या साम्यवादी, केवल अधिकया कम लोगों के शोषण पर ही कायम रह सकती है, अतः यदि हमें ऐसी अर्थव्यवस्था कायम करनी है, जिसमें शोषण को कोई स्थान न हो और सबको विकास का अधिकतम अवसर मिले तो काम और आराम के इस रूप और इस सम्बन्ध में आमूल परिवर्तन करना होगा। काम और आराम एक दूसरे से विभिन्न और विरोधी होकर नहीं रह सकते, न काम एक अरुचिकर मजबूरी रह सकता है, न आराम एक वांछनीय आदर्श।

नया जीवन दर्शन—इसके लिये हमें अलग जीवन से ही आरंभ करना होगा। यह विश्व कर्मक्षेत्र है और मानव जीवन के प्रत्येक क्षण की सार्थकता कर्म में है। कर्म से विरत मानव जीवन न सम्भव है और न वांछनीय। वांछनीय यह है कि मानव के कर्म अधिकाधिक वैयक्तिक से सामाजिक या परार्थमय होते जायें, इस दृष्टि से काम मजबूरी न रहकर स्वाभाविक बन जायगा।

विकेन्द्रित जीवन और काम—काम रुचिकर और स्वास्थ्यकर हो, इसके लिए आवश्यक है कि यह जहाँ तक संभव हो खुले, ...

कारखानों, धुआं और

गंदगी में न हो। काम अपने-आप में यथा संभव पूर्ण हो, अर्थात् पूरी चीज के निर्माण या सेवा का हो—बड़े कारखाने की एक प्रक्रिया या एक प्रक्रिया का भाग मात्र न हो। इससे काम में मानव की सृजनात्मक शक्ति को उपयोग में आने का अवसर मिलेगा और पूर्ण किया हुआ काम करने वाले के लिये आनंद का स्रोत बन जायगा। जितने क्षेत्र में मजबूरी से बड़े कारखाने रखने ही पड़ें, उनमें प्रयत्न यह हो कि उनके काम के जितने भाग विकेंद्रित रूप से परिवारों को अपने-अपने घरों में करने के लिए दिये जा सकें, वे उन्हें दे दिये जायं। इस प्रकार बड़े कारखानों में भी यंत्र के केन्द्रीत और अरुचिकर काम का परिमाण कम से कम कर दिया जाय और उसे एक सामाजिक कर्तव्य के रूप में पूरा किया जाय।

आराम का वास्तविक अर्थ—आराम का अर्थ काम से दूर भागना न माना जाय, बल्कि एक प्रकार के काम के बजाय दूसरे प्रकार का काम माना जाय। शरीर-श्रम से थक जाने पर बौद्धिक श्रम द्वारा शरीर को आराम दिया जा सकता है। आंखों के थक जाने पर आंखों को विश्राम देकर कान, हाथ या पैर से काम लिया जा सकता है। काम के बदलाव में ही आराम है। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले मूलभूत काम के अलावा अन्य सभी शारीरिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक या अन्य काम उसे आराम देने वाले ही होंगे। इस प्रकार काम और आराम विभिन्न और विरोधी न रहकर साधन और सहयोगी हो जायगा, और आराम और विश्राम की वृद्धि को सभ्यता और प्रगति का आदर्श और मापक न मानकर, काम और सेवा को ही आदर्श माना जायगा।

कला और संस्कृति केवल जीवन के लिये इस दृष्टिकोण से कला, संस्कृति और मनोरंजन का भी पूंजीवादी रूप बदल जायगा। आज कला, संस्कृति और मनोरंजन सभी एक स्थिति में जनता का शोषण करते हैं और दूसरी स्थिति में उनके नाम पर कुछ लोगों का शोषण दूसरे लोग या समाज करने लगता है। इसका कारण 'कला, कला के लिए' का भ्रामक और अनुचित सिद्धांत है, जिसने कला को जीवन से इस कठोर और ठोस धरती से अलग और दूर कर दिया है। यही पूंजीवादी

व्यवस्था जहाँ बर्नार्डशा को करोड़पति होने का मौका देती है, वहाँ अन्य कलाजीवियों को क्षय रोग में तड़प तड़प कर मर जाने की सुविधा भी प्रदान कर देती है। अगर कवि और चित्रकार, अध्यापक और विचारक, अभिनेता और नाट्यकार—सभी हरे भरे खेत, धरती से निकलने वाली जल की धारा, खेत में बरसने वाले बादल, धूप और चाँदनी से संबद्ध हों तो उनकी कृतियों में अधिक वास्तविकता होगी, उनकी आत्मा में अधिक तेजस्विता होगी, उनके शरीर में अधिक बल होगा। वे साम्यवादी देशों के कलाकारों की भांति केवल दिये हुए नक्शों में रंग भरनेवाले नहीं होंगे, बल्कि उनके नक्शे भी अपने होंगे और रंग भी अपने। वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रख सकेंगे और समाज के उदय में अधिक सबल भाग ले सकेंगे। वे आज की तरह 'सर्वाधिकार सुरक्षित' के संकुचित और मूर्खतापूर्ण दायरे से निकल कर 'सब अधिकार सब के लिए' के विशद और स्वाभाविक क्षेत्र में आ जायंगे।

आदमी आदमियों का, नगर गांवों का, राज्य दूसरे राज्यों का शोषण कर रहे हैं।

चारों ओर दुःख और संकट है; इससे बचिए।

सब के हित में ही हमारा भी हित है

पूंजीवाद या स्वार्थ के समर्थक अर्थशास्त्र की जगह

सर्वोदय अर्थशास्त्र

पढ़िए, सोचिए और अमल में लाइए

इसमें अर्थशास्त्र का विवेचन सर्वोदय की दृष्टि से किया गया है।

लेखक

अर्थशास्त्र और राजनीति के अनेक ग्रन्थों के रचयिता

भगवानदास केला

भूमिका लेखक

सर्वोदय विचारधारा को व्यवहारिक रूप देने में लगे

श्रद्धेय श्री श्रीकृष्णदास जाजू

मूल्य चार रुपये